नाथ-संप्रदाय

हजारीप्रसाद द्विवेदी

१९५०

हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

वक्तव्य

हिंदी साहित्य के इतिहास में सिद्ध-साहित्य के महत्व की ओर ध्यान पहले पहल डा० पीताम्बरदत्त बर्थवाल ने आकृष्ट किया था, मागधी अपभ्रंश में लिखी हुई सिद्ध-साहित्य संबंधी प्रचुर सामग्री को श्री राहुल सांकृत्यायन प्रकाश में लाए और अब प्रसिद्ध विद्वान् डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने सिद्ध या नाथ-संप्रदाय का यह क्रमबद्ध प्रथम विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में उपस्थित किया है।

इस ग्रंथ के तैयार करने में डा० द्विवेदी ने सिद्ध-संप्रदाय से संबंध रखने वाली समस्त सामग्री का अत्यंत योग्यता के साथ उपयोग किया है। यह सामग्री संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रंथों, संप्रदाय में सुरक्षित जनश्रुतियों तथा अंग्रेज़ी आदि अन्य आधुनिक भाषा के ग्रंथों में संकलित उल्लेखों के रूप में बिखरी पड़ी थी। इन सबके अध्ययन तथा समन्वय के फल-स्वरूप संप्रदाय के इतिहास तथा सिद्धांतों की स्पष्ट रूपरेखा उपस्थित करना सरल कार्य नहीं था। अलौकिक कथाओं तथा असंबद्ध जनश्रुतियों में से ऐतिहासिक तथ्य को टटोल कर निकाल लेना डा० द्विवेदी जैसे अनुभवी, बहुश्रुत तथा प्रतिभाशाली विद्वान के लिए ही संभव था।

ग्रंथकार ने पहले दो अध्यायों में नाथ-संप्रदाय तथा संप्रदाय के पुराने सिद्धों का वर्णनात्मक परिचय दिया है, किंतु इस परिचय में भी प्रचुर मौलिक खोज संबंधी सामग्री गुथी हुई है। अगले तीन अध्यायों में मत्स्येंद्रनाथ और उनके कौलज्ञान का विवेचन है। छटें व सातवें अध्यायों में जालंधरनाथ और कृष्णपाद तथा उनके कापालिक मत का वर्णन है। इसके उपरांत चार अध्यायों (८—१२) का विषय गोरखनाथ तथा उनके योगमार्ग के सिद्धांत हैं। बारहवें तथा तेरहवें अध्यायों में गोरखनाथ के समसामयिक सिद्धों और परवर्ती सिद्ध-संप्रदायों का विस्तृत परिचय है। अंतिम दो अध्यायों में लोकभाषा में संप्रदाय के नैतिक उपदेशों का सार तथा उपसंहार है। इस तरह इन दो सौ पृष्ठों में सिद्ध या नाथ-संप्रदाय का प्रामाणिक इतिहास तथा उसके सिद्धांतों का परिचय पाठक को एकत्र मिल जाता है।

स्वर्गीय राय राजेश्वर बली की प्रेरणा से इस विषय पर पुस्तक लिखाने के लिए खजूरगाँव राज (रायबरेली) के ताल्लुक़ेदार राना उमानाथ बख़्श सिंह साहब ने १२००) का पुरस्कार देने का वचन दिया था, जिसमें ६००) उन्होंने एकेडेमी में भिजवा भी दिया था। राना साहब को इस विषय से विशेष दिलचस्पी थी और पुस्तक की हस्तलिपि को आद्योपांत पढ़कर उन्होंने कुछ सुझाव भी योग्य लेखक के पास भिजवाए थे। यह अत्यंत दुःख का विषय है कि आज जब यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है तो ये दोनों ही सज्जन हम लोगों के बीच में नहीं हैं। जो हो एकेडेमी इन दोनों का आभारी है क्योंकि इनकी प्रेरणा और सहायता के बिना कदाचित् इस ग्रंथ का अभी लिखा जाना संभव न होता।

धीरेन्द्र वर्मा

१५ जनवरी, १९५०

कृतज्ञता-प्रकाश

इस पुस्तक के प्रकाशित होते होते हमें खजुरगाँव के स्वर्गीय राना उमानाथ बख्श सिंह के सुपुत्र राना शिवंबर सिंह साहब से ५००) की रक़म प्रकाशन में सहायता के रूप में प्राप्त हुई है। स्वर्गीय राना साहब से प्राप्त सहायता का उल्लेख वक्तव्य में हो चुका है। राना शिवंबर सिंह साहब ने इस दान द्वारा अपने सुयोग्य पिता के वचन की अधिकांश पूर्ति की है और अपने वंश की विद्यानुरागिता का परिचय दिया है। हम हृदय से उनके कृतज्ञ हैं।

मंत्री तथा कोषाध्यक्ष,
हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

३१-३-५०

विषय-सूची

१
नाथ-संप्रदाय का विस्तार

(१) नाम

सांप्रदायिक ग्रंथों में नाथ-संप्रदाय के अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। हठयोगप्रदीपिका की टीका (१-५) में ब्रह्मानंद ने लिखा है कि सब नाथों में प्रथम आदिनाथ हैं जो स्वयं शिव ही हैं—ऐसा नाथ-संप्रदाय वालों का विश्वास है। इस से यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानंद इस संप्रदाय को 'नाथ-संप्रदाय' नाम से ही जानते थे[१] भिन्न-भिन्न ग्रंथों में बराबर यह उल्लेख मिलता है कि यह मत 'नाथोक्त' अर्थात् नाथद्वारा कथित है। परंतु संप्रदाय में अधिक प्रचलित शब्द हैं, सिद्ध-मत (गो० सि० सं०, पृ० १२) सिद्ध-मार्ग (योगबीज), योग-मार्ग (गो० सि० सं०, पृ० ५, २१) योग-संप्रदाय-(गो० सि० सं०, पृ० ५८), अवधूतमत (पृ० १८), अवधूत-संप्रदाय (पृ० ५६) इत्यादि। इस मत के योग मत और योग-संप्रदाय नाम तो सार्थक ही हैं, क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्ध-मार्ग इसलिये कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध हैं। इनके मत का अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथ 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' है जिसे अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में काशी के बलभद्र पंडित ने संक्षिप्त कर के सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह नामक ग्रंथ लिखा था। इन ग्रंथों के नाम से पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्ध मत' कहा जा रहा है। सिद्धान्त वस्तुतः वादी और प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ को कहते हैं, परन्तु इस संप्रदाय में यह अर्थ नहीं स्वीकार किया जाता। इन लोगों के मत से सिद्धों द्वारा निर्णीत या व्याख्यात तत्त्व को ही सिद्धान्त कहा जाता है (गो० सि० सं०, पृ० १८), इसी लिये अपने संप्रदाय के ग्रंथों को ही ये लोग 'सिद्धान्त-ग्रंथ' कहते हैं। नाथ संप्रदाय में प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य अन्त में नाथ-संप्रदाय के अनुयायी हो गए और उसी अवस्था में उन्होंने सिद्धान्त-बिंदु ग्रंथ लिखा था। अपने मत को ये लोग 'अवधूत मत' भी कहते हैं। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह में लिखा है कि हमारा मत तो अवधूत मत ही है (अस्माकं मतं त्ववधूतमेव, पृ० १८)। कबीरदास ने 'अवधू' (=अवधूत) को संबोधन करते समय इस मत को ही बराबर ध्यान में रखा है। कभी कभी इस मत के ढोंगी साधुओं को उन्होंने 'कच्चे सिद्ध' कहा है[२]। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के शुरू में ही

---

१. आदिनाथः सर्वेषां नाथानां प्रथमः, ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदन्ति।

२. कच्चे सिद्धन माया प्यारी। —बीजक, ११ वीं रमैनी

'सिद्ध मत' की भक्ति-हीनता [1] की ओर इशारा किया है। गोस्वामी जी के ग्रंथों से पता चलता है कि वे यह विश्वास करते थे कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था [2]। मेरा अनुमान है कि रामचरितमानस के आरंभ में शिव की वंदना के प्रसंग में जब उन्होंने कहा था कि 'श्रद्धा और विश्वास के साक्षात् स्वरूप पार्वती और शिव हैं; इन्हीं दो गुणों (अर्थात् श्रद्धा और विश्वास) के अभाव में 'सिद्ध' लोग भी अपने ही भीतर विद्यमान ईश्वर को नहीं देख पाते'[3], तो उनका तात्पर्य इन्हीं नाथपंथियों से था। यह अनुमान यदि ठीक है तो यह भी सिद्ध है कि गोस्वामी जी इस मत को 'सिद्ध मत' ही कहते थे। यह नाम संप्रदाय में भी बहुत समादृत है और इसकी परंपरा बहुत पुरानी मालूम होती है। मत्स्येन्द्रनाथ के कौलज्ञाननिर्णय के सोलहवें पटल से अनुमान होता है कि वे जिस संप्रदाय के अनुयायी थे उसका नाम 'सिद्ध कौल संप्रदाय' था। डा० बागची ने लिखा है कि बाद में उन्होंने जिस संप्रदाय का प्रवर्तन किया था उसका नाम 'योगिनी कौल मार्ग' था। आगे चल कर इस बात की विशेष आलोचना करने का अवसर आएगा। यहाँ इतना ही कह रखना पर्याप्त है कि यह सिद्ध कौल मत ही आगे चल कर नाथ-परंपरा के रूप में विकसित हुआ।

सिद्धसिद्धान्तपद्धति में इस सिद्ध मत को सबसे श्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि कर्कशतर्कपरायण वेदान्ती माया से प्रमित हैं, भाट्ट मीमांसक कर्म-फल के चक्कर में पड़े हुए हैं, वैशेषिक लोग अपनी द्वैत बुद्धि से ही मारे गए हैं तथा अन्यान्य दार्शनिक भी तत्त्व से वंचित ही हैं; फिर, सांख्य, वैष्णव, वैदिक, वीर, बौद्ध, जैन, ये सब लोग व्यर्थ के कष्टकल्पित मार्ग में भटक रहे हैं; फिर, होम करने वाले

---

१. (१) लियोनार्ड ने अपने नोट्स आन दि कनफटा योगीज़ नामक प्रबंध में दिखाया है कि गोरखनाथ भक्ति मार्ग के प्रतिद्वंदी थे। देखिए इ० ए०, जिल्द ७, पृ० २११।

(२) नाथयोगियों और भक्तों की तुलना के लिये देखिए—कबीर, पृ० १५१-४।

२. बरन धरम गयो आस्रम निवास तज्यो
त्रासन चकित सो परावनो परो सो है।
करम उपासना कुबासना बिनास्यो ज्ञान
बचन बिराग बेस जगत हरो सो है।
गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग
निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है।
काय मन बचन सुभाय तुलसी है जाहि
राम नाम को भरोसो ताहिको भरोसो है।
—कवितावली, उत्तरकाण्ड, ८४।

३. भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

बहु दीक्षित आचार्य, नग्नव्रत वाले तापस, नाना तीर्थों में भटकने वाले पुण्यार्थी बेचारे दुःखभार से दबे रहने के कारण तत्त्व से शून्य रह गए हैं, —इसलिये एक मात्र स्वाभाविक आचरण के अनुकूल सिद्ध-मार्ग को आश्रय करना ही उपयुक्त है[१]। यह सिद्ध-मार्ग नाथ मत ही है। 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना, इस प्रकार 'नाथ' मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसी कारण से 'नाथ' कहा जाता है।[२] फिर 'ना' शब्द का अर्थ नाथ-ब्रह्म जो मोक्ष-दान में दक्ष हैं, उनका ज्ञान कराना है और थ' का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला। चूँकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ-ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है इसीलिये 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया जाता है।[३]

(२) बौद्ध और शाक्त मतों का अन्तर्भाव

यह विश्वास किया जाता है कि आदिनाथ स्वयं शिव ही हैं[४] और मूलतः समग्र नाथ-संप्रदाय शैव है। सब के मूल उपास्य देवता शिव हैं। गोरक्षसिद्धान्त

---

१. वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया ।

भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः ।
अन्ये भेदरता विषादविकलास्ते तत्त्वतोवंचिता—
स्तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरःपरं संश्रयेत् ।
सांख्या वैष्णव वैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः ।
सौरा वीरपरा प्रपञ्चनिरता बौद्धा जिनाः श्रावकाः ।
एते कष्टरता वृथा पृथगता ते तत्त्वतोवञ्चिता —
स्तस्मात् सिद्धमतं० ।
आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः ।
नानातीर्थनिषेवका जिनपरा मौने स्थिता नित्यशः ।
एते ते खलु दुःखभागनिरता ते तत्त्वतो वञ्चिता —
स्तस्मात् सिद्धमत० ।

२. राजगुह्य में—नाकारोऽनादि रूपं थकारः स्थाप्यते सदा ।
भुवनत्रयमेवैकः श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते ॥

३. शक्तिसंगमतंत्र में—श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथ ब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्री नाथ इति गीयते ॥

४. देदीप्यमानस्तत्त्वस्य कर्ता साक्षात् स्वयं शिवः
संरक्षन्तो विश्वमेव धीराः सिद्धमताश्रयाः ॥ —सिद्धसिद्धान्तपद्धति

शक्तिसंगमतंत्र बड़ौदा सीरीज़ (९१) के ताराखण्ड में आदिनाथ और काली के संवाद से ग्रंथ आरंभ होता है। ये आदिनाथ स्वयं शिव ही हैं।

संग्रह (पृ० १८) में शंकराचार्य के अद्वैत मत के पराभव की कहानी दी हुई है। पराभव एक कापालिक द्वारा हुआ था। कहानी कहने के बाद ग्रंथकार को संदेह हुआ है कि पाठक कहीं कापालिक के विजय से उल्लसित होने के कारण ग्रंथकार को भी उसी मत का अनुयायी न मान लें, इसलिये उन्होंने इस शंका को निर्मूल करने के लिये कहा है कि ऐसा कोई न समझे कि हम कापालिक मत को मानते हैं। मत तो हमारा अवधूत ही है। किन्तु इतना अवश्य है कि कापालिक मत को भी श्री 'नाथ' ने ही प्रकट किया था, क्योंकि *शाबर तंत्र* में कापालिकों के बारह आचार्यों में प्रथम नाम आदिनाथ का ही है और बारह शिष्यों में से कई नाथ मार्ग के प्रधान आचार्य हैं[१]। फिर शाक्त मार्ग, जो तंत्रानुसारी है, उसके उपदेष्टा भी नाथ ही हैं। नाथ ने ही तंत्रों की रचना की है क्योंकि *षोडशनित्या तंत्र* में शिव ने कहा है कि मेरे कहे हुए तंत्र को ही नवनाथों ने लोक में प्रचार किया है[२]। शाक्त मत के अनुसार चार प्रधान आचार हैं:—वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार भी चार प्रकार के हैं:—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। अब, *षट्शांभव-रहस्य* नामक ग्रंथ में बताया गया है कि वैदिक आचार से वैष्णव श्रेष्ठ हैं, उससे गाणपत्य, उससे सौर, उससे शैव और शैव आचार से भी शाक्त आचार श्रेष्ठ है। शाक्त आचारों में भी वाम, दक्षिण और कौल उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं और कौल मार्ग ही अवधूत-मार्ग है। इस प्रकार तन्त्र ग्रंथों के अनुसार भी कौल या अवधूत मार्ग श्रेष्ठ है, इसलिये शाक्त तंत्र भी नाथानुयायी ही हैं (गो० सि० सं०, पृ० १९)। यह लक्ष्य करने की बात है कि इस वक्तव्य में शाक्त तंत्र को ही नाथ मत का अनुयायी कहा गया है। शाक्त आगम तीन प्रकार के हैं। सात्त्विक अधिकारियों को लक्ष्य करके उपदिष्ट आगम 'तंत्र' कहे जाते हैं, राजस अधिकारियों के लिये उपदिष्ट शास्त्र 'यामल' कहे जाते हैं और तामस अधिकारियों के लिये उपदिष्ट शास्त्र को 'डामर' कहा जाता है। फिर तांत्रिकों के सर्वश्रेष्ठ कौलाचार को ही अवधूत-मार्ग बताया गया है। *गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह* (पृ० २८) में तांत्रिक और अवधूत का अन्तर भी बताया गया है। कहा गया है कि तांत्रिक लोग पहिले बहिरंग उपासना करते हैं और अन्त में क्रमशः सिद्धि प्राप्त करते हुए कुण्डलिनी शक्ति की उपासना करते हैं जो हू-ब-हू अवधूत-मार्ग की ही उपासना है।

---

१. कापालिकों के बारह आचार्य ये हैं—आदिनाथ, अनादि, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल कालभैरवनाथ, वटुकनाथ; वीरनाथ और श्रीकण्ठ। इनके बारह शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष, चर्पट, अवद्य; वैरागी, कंथाधारी, जालंधर और मलयार्जुन। स्पष्ट ही इस सूची में के अनेक नाम नाथ-योगियों के हैं।

२. कादिसंज्ञा भवेद्रूपा साशक्तिः सर्व सिद्धये।
तंत्रं यदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयन् ॥
तथा तैर्भुवने मंत्रं कल्पे-कल्पे विजृम्भते।
अवसाने तु कल्पानां सा तैः सार्द्धं भजेच्च माम् ॥

इस प्रकार नाथ संप्रदाय के ग्रंथों की अपनी गवाही से ही मालूम होता है कि तांत्रिकों का कौल-मार्ग और कापालिक मत नाथ मतानुयायी ही हैं। यहां यह ध्यान देने की बात है कि *कौलज्ञाननिर्णय* में अनेक कौल मतों में एक योगिनी-कौल मत का उल्लेख है (सप्तदश पटल)। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का संबंध इसी योगिनी-कौल मार्ग से बताया गया है[1]। यह मार्ग कामरूप देश में उद्भूत हुआ था। इस प्रकार नाथ-पंथियों का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि कौलाचार उनके आचार्यों द्वारा उपदिष्ट मार्ग है। त्रिपुरा-संप्रदाय के अनेक सिद्धों के नाम वे ही हैं जो नाथ पंथियों के हैं। प्रसिद्ध है कि दत्तात्रेय ने त्रिपुरातत्त्व पर अठारह हजार श्लोकों की *दत्तसंहिता* लिखी थी। परशुराम नामक किसी आचार्य ने पचास खंडों में तथा छः हजार सूत्रों में इसे संक्षिप्त किया था। बाद में यह संक्षिप्त ग्रंथ भी बड़ा समझा गया और हरितायन सुमेधा ने इसे *परशुरामकल्पसूत्र* नाम से पुनर्वार संक्षिप्त किया। इस ग्रंथ की दो टीकाएँ उपलब्ध हुई हैं और दोनों ही गायकवाड़ संस्कृत सीरीज में (नं० २२, २३) प्रकाशित हो गई हैं। प्रथम टीका उमानंद-नाथ की लिखी हुई *नित्योत्सव* नामक है। इसे अशुद्ध समझ कर रामेश्वर ने दूसरी वृत्ति लिखी। उमानन्दनाथ ने प्रथम मंगलाचरण के श्लोक में 'नाथपरम्परा' की स्तुति की है[2]। इस प्रकार त्रिपुरा मत के तांत्रिकों के आचार्य स्वयं अपने को 'नाथ मतानुयायी' कहते हैं। काश्मीर के कौल मार्ग में मत्स्येंद्रनाथ को बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है।

अब थोड़ा सा कापालिक मत के विषय में भी विचार किया जाय। कापालिक मत इस समय जीवित है या नहीं, इस विषय में संदेह ही प्रकट किया जाता है[3]। यामुनाचार्य के *आगमप्रामाण्य* (पृ० ४८) से इस मत का थोड़ा सा परिचय मिलता है। भवभूति के *मालतीमाधव* नामक प्रकरण में कापालिकों का जो वर्णन है वह बहुत ही भयंकर है। वे लोग मनुष्य-बलि किया करते थे। परन्तु इस नाटक से इतना तो स्पष्ट ही है कि उनका मत षट्चक्र और नाड़िका-निचय के काया-योग से संबद्ध

---

१. बागची : *कौलावलिनिर्णय*, भूमिका पृ० ३१
उपाध्याय : *भारतीय दर्शन*, पृ० ५३८

२. नत्वा नाथ परंपरां शिवमुखां विश्वेश्वरं श्री महा-
राज्ञीं तत्सचिवां तदीयपृतनानाथां तदन्तःपराम् — इत्यादि।

३. बंगाल में कपाली नाम की एक जाति है। पंडित लोग इसे कापालिक परंपरा का अवशेष मानते हैं। परन्तु स्वयं यह जाति इस बात को नहीं स्वीकार करती। ये लोग अपनेको वैश्य कपाली कहने लगे हैं। इनके समस्त आचार आधुनिक हिंदुओं के हैं। इनके पुरोहित ब्राह्मण हैं परन्तु अन्य ब्राह्मण इन्हें हीन समझते हैं। सन् १९०१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार इनकी संख्या १४,७०० थी।

था[1] यह काया-योग नाथपंथियों की अपनी विशेषता है। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध गान ओ दोहा नाम से जो संग्रह प्रकाशित किया है उसका एक भाग चर्याचर्यविनिश्चय है। यहाँ सुझाया गया है कि ग्रंथ का वास्तविक नाम चर्याश्चर्यविनिश्चय होना चाहिए। इस में चौरासी बौद्ध सिद्धों में से चौबीस सिद्धों के रचित पद संगृहीत हैं। एक सिद्ध हैं कान्हूपाद या कृष्णपाद। इनके रचित बारह पद उक्त संग्रह में पाए जाते हैं और सब से अधिक पद इन्हीं के हैं। ये कान्हूपाद अपने को 'कापाली' या 'कापालिक' कहते हैं।[2] एक पद में उन्होंने अपने गुरु का नाम जालंधरि दिया है।[3] हम आगे चल कर देखेंगे कि जालंधरपाद नाथपंथ के बहुत प्रसिद्ध आचार्य थे। परवर्ती परंपरा के अनुसार भी कान्हूपाद या कानपा जालंधरनाथ के शिष्य बताए गए हैं। मानिकचंद्र के मयनामती र गान में इन्हें नाथपंथी योगी जालंधर का शिष्य बताया है। इन्हीं जालंधर का नाम हाड़ीपा या हलीकपाद भी है। जालंधरनाथ ने कोई सिद्धान्तवाक्य नामक संस्कृत पुस्तक भी लिखी थी। वह पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है, पर एक श्लोक से पता चलता है कि जालंधर नाथ-मार्ग के अनुयायी थे। इस श्लोक में नाथ की बड़ी सुंदर स्तुति है[4]। स्कंदपुराण के काशीखण्ड में नव नाथों के विन्यास के सिलसिले में जालंधरनाथ का नाम

---

१. नित्यन्यस्तषडङ्गचक्रनिहितं हृत्पद्ममध्योदितं
पश्यन्ती शिवरूपिणं लयवशादात्मानमभ्यागता।
नाड़ीनामुदयक्रमेण जगः पंचामृताकर्षणाद्
अप्राप्तोत्पतनश्रमा विघटयन्त्यग्र नभोऽम्भोमुचः॥ —मालतीमाधव ५-२

२ (१) आलो डोम्बि तोए संग करिब मो सांग।
निर्धन कान्ह कापालि जोइ्लांग॥ चर्या०, पद १०

(२) कइसन होलो डोम्बि तोहरि भाभरि आली।
अन्ते कुलीन जन माझे कावाली

(३) तुलो डोम्बी हाउँ कपाली —वही, पद १०

३. शाखि करिब जालंधरि पाए।
पाखि ण राहअ मोरि पांडिआ चादे॥ —वही पद ३६

४ जालंधर के सिद्धान्तवाक्य में यह श्लोक है:
वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा
सत्कर्तृ व्यापकं त्वां पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा
मुद्रानादि शूलैर्विमलरुचिधरं खर्पर भस्ममिश्र
द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनं शङ्करं वा —स०, भ०, सू०, पृ० १८

पाया जाता है[1]। गोरक्षसिद्धांत संग्रह (पृ० २०) पर कापालिक मत के प्रकट करने का मनोरंजक कारण बताया गया है। जब विष्णु ने चौबीस अवतार धारण किए और मत्स्य, कूर्म, नृसिंह आदि के रूप में तिर्यग् योनि के जीवों की सी क्रीड़ा करने लगे, कृष्ण के रूप में व्यभिचारि भाव ग्रहण किया परशुराम के रूप में निरपराध क्षत्रियों का निपात आरम्भ किया, तो इन अनर्थों से कुपित होकर श्रीनाथ ने चौबिस कापालिकों को भेजा। इन्होंने चौबीसों अवतारों से युद्ध करके उनका सिर या कपाल काटकर धारण किया! इसीलिये ये लोग कापालिक कहलाए।

इस समय जयपुर के पावनाथ शाखा वाले अपनी परम्परा जालंधरनाथ और गोपीचन्द से मिलाते हैं। अनुश्रुति के अनुसार बारह पंथों में से छः स्वयं शिव के प्रवर्तित हैं और बाकी छः गोरखनाथ के। यह परम्परा लक्ष्य करने की है कि जालंधरिपा नामक जो संप्रदाय इस समय जीवित है वह जालंधरपाद का चलाया हुआ है। पहले इसे 'पा पंथ' कहते थे और नाथ-मार्ग से ये लोग स्वतंत्र और भिन्न थे। जालंधर या जालंधर नाथ को मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ से अलग करने के लिये कहा गया है। जालंधरनाथ औघड़ थे जब कि मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ कनफटा।[2] कान चीर कर मुद्रा धारण करने पर योगी लोग कनफटा कहलाते हैं परन्तु उसके पूर्व औघड़ कहे जाते हैं। परन्तु सिद्धान्त वाक्य से जालंधरपाद का जो श्लोक पहले उद्धृत किया गया है उससे पता चलता है कि मुद्रा नाद और त्रिशूल धारण करने वाले नाथ ही इनके उपास्य हैं। आजकल जालंधरिपा सम्प्रदाय के लोग गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित पावनाथी शाखा के ही हैं। परन्तु कानिपा सम्प्रदाय वाले, जिन्हें कोई-कोई जालन्धरिपा से अभिन्न भी मानते हैं और जो लोग अपने को गोपीचन्द का अनुवर्ती मानते हैं, बारह पंथियों से अलग समझे जाते हैं।[3] सपेला या सँपेरे इसी सम्प्रदाय के माने जाते हैं। एक अन्य परंपरा के अनुसार बामारग (वाममार्ग) संप्रदाय कानिपा पंथ से ही संबद्ध है।[3] इन बातों से यह अनुमान होता है कि कापालिक मार्ग का स्वतंत्र अस्तित्व था जो बाद में गोरखपंथी साधुओं में अन्तर्भुक्त हो गया है। गोरखपंथियों से कुछ बातों में ये लोग अब भी भिन्न हैं। गोरखपंथी लोग कान के मध्यभाग में ही कुण्डल धारण करते हैं पर कानिपा लोग कान की लोरों में भी उसे पहनते हैं यह मुद्रा गोरखनाथी योगियों का चिह्न है गोरखपंथ में इनके अनेक आध्यात्मिक अर्थ भी बताये जाते हैं। कहते हैं यह शब्द मुद् (प्रसन्न होना) और रा (आदान, ग्रहण) इन धातुओं से बना है। ये दोनों जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं चूँकि इससे देवता लोग प्रसन्न होते हैं और असुर

---

१. जालंधरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रित.।

२. ब्रिग्स : गोरखनाथ ऐण्ड द कनफटा योगीज़, पृ० ६७।

३ वही, पृ० ६९।

लोग भाग खड़े होते हैं इसलिये इसे साक्षात्कल्याणदायिनी मुद्रा माना जाता है[1]। मुद्रा धारण के लिये कान का फाड़ना आवश्यक है और यह कार्य छुरी या छुरिका से ही होता है। इसीलिये छुरिकोपनिषद् में छुरी का माहात्म्य वर्णित है[2]। तात्पर्य यह कि जो साधु कान फाड़कर मुद्रा धारण नहीं करते उनका गोरखनाथ के मार्ग से संबंध संदेहास्पद हो है। इस आलोचना से स्पष्ट होता है कि जालंधर (या जलधर) पाद और कृष्ण-पाद (कानिपा, कानुग, कान्हूपा) द्वारा प्रवर्तित मत नाथ-संप्रदाय के अन्तर्गत तो था परन्तु मत्स्येंद्र नाथ-गोरखनाथ परम्परा से भिन्न था। बाद में चलकर वह गोरख-नाथी शाखा में अन्तर्भुक्त हुआ होगा।

जो हो, जालंधरपाद और कृष्णपाद कर्णकुण्डल धारण करते थे, या नहीं यह निश्चय करना आज के वर्तमान उपलभ्य सामग्रियों के आधार बहुत कठिन है। परन्तु चर्यापद में शबरपाद का एक पद हमें ऐसा मिला है[3] जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कम से कम शबरपाद या तो स्वयं कर्णकुण्डल धारण करते थे या फिर उनके सामने ऐसे योगी जरूर थे जो कर्णकुण्डल धारण करते थे। पहली बात ज्यादा मान्य जान पड़ती है। इन शबरपाद को कृष्णपाद (कानपा) ने बहुत श्रद्धा और सम्मान के साथ याद किया है और एक दोहे में परम पद—महासुख के आवास—के प्रसंग में बताया है कि यही वह जालधर नामक महामेरु गिरि के शिखर का उष्णीष कमल है—जो साधकों का चरम प्राप्तव्य है—जहाँ स्वयं शबरपाद ने वास किया था।[4] यदि यह अनुमान सत्य हो कि शबर पादकिसी

---

१. मुद् मोदे तु रादाने जीवात्मपरमात्मनोः।
उभयोरैक्यसंभूतिर्मुद्रेति परिकीर्तिता ॥
मोदन्ते देवसंघाश्च द्रवन्तेऽसुरराशयः।
मुद्रेति कथिता साक्षात् सदाभद्रार्थदायिनी।—सिद्धसिद्धान्तपद्धति

२. छुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणां गसिद्धये।
संप्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तः प्रजायते।

३. एकेली सबरी ए वन हिण्डइ
कर्ण कुण्डल वज्रधारी—चर्या० पद २८।

इस पर टीका—कर्णेति नानास्थाने कुण्डलादि पञ्चमुद्रा निरंशुकालंकारं कृत्वा वज्रमुपायज्ञानं विधृत्य युगनद्धरूपेण अत्र कायपर्वत वने हिण्डति क्रीडति।

—बौ० गा० दो०, पृ० ४४।

४. वरगिरि शिहर उतुंग मुनि
शबरे जहिं किअ वास।
णइ सो लंघिअ पञ्चाननेहि
करिवर दुरिअ आस॥ २५॥

—बौ० गा० दो०, पृ० १३०।

प्रकार का कर्णकुण्डल धारण करते थे तो यह अनुमान भी असंगत नहीं है कि उनके प्रति नितरां श्रद्धाशील कानपा भी कर्णकुण्डल धारण करते होंगे। अद्वयवज्र ने इस पद के इस शब्द की भी रूपक के रूप में व्याख्या की है।

यद्यपि यही विश्वास किया जाता है कि मत्स्येंद्रनाथ ने या गोरखनाथ ने ही कर्णकुण्डल धारण करने की प्रथा चलाई थी तथापि कर्णकुण्डल कोई नई बात नहीं है। इस प्रकार के प्राचीन प्रमाण मिलते हैं जिससे अनुमान होता है कि कर्ण-कुण्डलधारी शिवमूर्तियाँ बहुत प्राचीन काल में भी बनती थीं। एलोरा गुफा के कैलास नामक शिवमन्दिर में शिव की एक महायोगी मुद्रा की मूर्ति पाई गई है। इस मूर्ति के कान में बड़े बड़े कुण्डल हैं। यह मंदिर और मूर्ति सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी की हैं। परन्तु ये कर्णकुण्डल कनफटा योगियों की भाँति नहीं पहने गये हैं। ब्रिग्स ने बम्बई की लिटरैरी सोसायटी के अनुवादों से उद्धृत करके लिखा है कि साल-सेटी, एलोरा और एलीफेंटा की गुफाओं में, जो आठवीं शताब्दी की हैं, शिव की ऐसी अनेक योगी-मूर्तियाँ हैं जिनके कान में वैसे ही बड़े बड़े कुण्डल हैं जैसे कन-फटा योगियों के होते हैं और उनको कान में उसी ढँग से पहनाया भी गया है। इसके अतिरिक्त मद्रास के उत्तरी आरकट जिले में परशुरामेश्वर का जो मंदिर है उसके भीतर स्थापित लिंग पर शिव की एक मूर्ति है जिसके कानों में कनफटा योगियों के समान कुण्डल हैं। इस मंदिर का पुनः संस्कार सन् ११२६ ई० में हुआ था इस लिये मूर्ति निश्चय ही उसके बहुत पूर्व की होगी। टी० ए० गोपीनाथ राव ने इंडियन एंटिक्वैरी के चालीसवें जिल्द (१९११ ई०) में इस लिंग का वर्णन दिया है। इनके मत से यह लिंग सन् ईसवी की दूसरी या तीसरी शताब्दी के पहले का नहीं होना चाहिए। इन सब बातों को देखते हुए यह अनुमान करना असंगत नहीं कि मत्स्येंद्रनाथ के पहले भी कर्णकुण्डलधारी शिवमूर्तियाँ होती थीं। इससे परंपरा का भी कोई विरोध नहीं होता क्योंकि कहा जाता है कि शिवजी ने ही अपना वेश ज्यों का त्यों मत्स्येंद्रनाथ को दिया था। एक अनुश्रुति के अनुसार तो शिव का वह वेश पाने के लिये मत्स्येंद्रनाथ को दीर्घकाल तक कठोर तपस्या करनी पड़ी थी।

(३) गोरखनाथी शाखा

नाथपंथियों का मुख्य संप्रदाय गोरखनाथी योगियों का है। इन्हें साधारणतः कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है। कनफटा नाम का कारण यह है कि ये लोग कान फाड़कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं। इस मुद्रा के नाम पर ही इन्हें 'दरसनी' साधु कहते हैं। यह मुद्रा नाना धातुओं और हाथी दाँत की भी होती है। अधिक धनी महन्त लोग सोने की मुद्रा भी धारण करते हैं। गोरखनाथी साधु सारे भारतवर्ष में पाए जाते हैं। पंजाब, हिमालय के पाद देश, बंगाल और बम्बई में ये लोग 'नाथ' कहे जाते हैं। ये लोग जो मुद्रा धारण करते हैं वे दो प्रकार की होती हैं -- कुण्डल और दर्शन। 'दर्शन' का सम्मान अधिक है क्योंकि विश्वास किया जाता है

कि इसे धारण करने वाले ब्रह्म-साक्षात्कार कर चुके होते हैं। कुण्डल को 'पवित्री' भी कहते हैं।

इन योगियों की ठीक-ठीक संख्या कितनी है यह मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों से भली भाँति नहीं जाना जाता। जार्ज वेस्टन ब्रिग्स ने अपनी मूल्यवान पुस्तक गोरखनाथ ऐण्ड दी कनफटा योगीज में भिन्न-भिन्न वर्षों की मनुष्य-गणना की रिपोर्टों से इनकी संख्या का हिसाब बताया है। सन् १८९१ की मनुष्य गणना में सारे भारतवर्ष में योगियों की संख्या २१४५४६ बताई गई थी। इसी वर्ष आगरा और अवध के प्रांतों में औघड़ ४३१९, गोरखनाथी २८८१६ और योगी (जिनमें गोरखनाथी भी शामिल हैं) ७८३८७ थे। इनमें औघड़ों को लेकर समस्त गोरखनाथियों का अनुपात ४५ फी सदी है। इसी रिपोर्ट के अनुसार योगियों में पुरुषों और स्त्रियों का अनुपात ४२ और ३५ का था। ये संख्याएं विशेष रूप से मनोरंजक हैं क्योंकि साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि ये योगी लोग ब्रह्मचारी हुआ करते हैं। वस्तुतः इनमें गृहस्थ और घरबारी लोग बहुत हैं। यह समझना भूल है कि केवल हिंदुओं में ही योगी हैं। उस साल की पंजाब की रिपोर्ट से पता चलता है कि ३८१३७ योगी मुसलमान थे। सन् १९२१ की मनुष्य-गणना में इनकी संख्या इस प्रकार है :—

जोगी हिंदू	६२९९७८	पुरुष/स्त्री	३२५/३०५
जोगी मुसलमान	३११५८	”	१६/१५
फकीर हिंदू	१४११३२	”	८०/६१

मनुष्य-गणना की परवर्ती रिपोर्टों में इन लोगों का अलग से कोई उल्लेख नहीं है[1]। इतना निश्चित है कि जोगियों में कनफटा साधुओं की संख्या बहुत अधिक है।

गोरखनाथी लोग मुख्यतः बारह शाखाओं में विभक्त हैं। अनुश्रुति के अनुसार स्वयं गोरखनाथ ने परस्पर विच्छिन्न नाथ पंथियों का संगठन करके इन्हें बारह शाखाओं में विभक्त कर दिया था। वे बारह पंथ ये हैं—सत्यनाथी, धर्मनाथी, रामपंथ, नटेश्वरी, कन्हड़, कपिलानी, बैराग, माननाथी, आईपंथ, पागलपंथ, धजपंथ और गंगानाथी। इन बारह पंथों के कारण ही शंकराचार्य के दशनामी संन्यासियों की भाँति इन्हें 'बारहपंथी योगी' कहा जाता है। प्रत्येक पंथ का एक एक विशेष 'स्थान' है जिसे ये लोग अपना पुण्य-क्षेत्र मानते हैं। प्रत्येक पंथ किसी पौराणिक देवता या महात्मा को अपना आदि प्रवर्तक मानता है। गोरखपुर के प्रसिद्ध सिद्ध महंत बाबा गंभीरनाथ के एक बंगाली शिष्य ने, संभवतः गोरखपुर की परंपरा के आधार पर, इन बारह पंथों का विवरण इस प्रकार दिया है[2] :—

---

१. विशेष विवरण के लिये दे० 'गोरखनाथ ऐण्ड दि कनफटा योगीज' पृ० ४-६

२. गंभीरनाथ प्रसंग, पृ० ५०-५१

सं०	नाम	मूलप्रवर्तक	स्थान	प्रदेश	विशेष
१	सत्यनाथी	सत्यनाथ	पाताल भुवनेश्वर	उड़ीसा	सत्यनाथ स्वयं ब्रह्मा का ही नाम है। इसी लिये ये लोग 'ब्रह्मा के योगी' कहलाते हैं।
२	धर्मनाथी	धर्मराज (युधिष्ठिर)	दुल्लुदेलक	नेपाल	...
३	रामपंथ	श्रीरामचंद्र	चौक तप्पे पंचौरा	गोरखपुर युक्तप्रान्त	इस समय ये लोग भी गोरखपुर के 'स्थान' को ही अपना स्थान मानते हैं।
४	नाटेश्वरी	लक्ष्मण	गोरखटिला	झेलम (पंजाब)	इनकी दो शाखाएं हैं—नाटेश्वरी और दरियापंथी
५	कन्हड़	गणेश	मानफरा	कच्छ	...
६	कपिलानी	कपिल मुनि	गंगा सागर	बंगाल	इस समय कलकत्ते (दमदम) के पास 'गोरखवंशी' इनका स्थान है।
७	बैरागपथ	भर्तृहरि	रतढोंडा	पुष्कर के पास अजमेर	..
८	माननाथी	गोपीचंद	अज्ञात	—	इस समय जोधपुर का महामंदिर मठ ही इनका स्थान है।
९	आई पंथ	भगवती विमला	जोगी गुफा या गोरख कुंई	बंगाल के दिनाजपुर जिले में	..
१०	पागलपंथ	चौरंगीनाथ (पूरन भगत	अबोहर	पंजाब	...
११	धजपंथ	हनुमान जी	—	—	..
१२	गंगानाथी	भीष्म पितामह	जखवार	गुरुदासपुर (पंजाब)	...

एक अनुश्रुति के अनुसार शिव ने बारह पंथ चलाए थे और गोरखनाथ ने भी बारह ही पंथ चलाए थे। ये दोनों दल आपस में झगड़ते थे इसलिये बाद में स्वयं गोरखनाथ ने अपने छः तथा शिव जी के छः पंथों को तोड़ दिया और आजकल की बारह-पंथी शाखा की स्थापना की। यह अनुश्रुति पागल बाबा नाम के एक औघड़ साधु से सुनी हुई है। ब्रिग्स ने किसी और परंपरा के अनुसार लिखा है कि शिव के अट्ठारह पंथ थे और गोरखनाथ के बारह। पहले मत के बारह को और दूसरे के छः पंथों को तोड़ कर आधुनिक बारह पंथी शाखा बनी थी [1]। इन दोनों अनुश्रुतियों में पहली अधिक प्रामाणिक होगी। क्योंकि सांप्रदायिक ग्रंथों में शिव के दो प्रधान शिष्य बताए गए हैं—मत्स्येंद्रनाथ और जालंधरनाथ। मत्स्येंद्र के शिष्य गोरखनाथ थे। जालंधरनाथ द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय कापालिक मार्ग होगा, इसका विचार हम पहले ही कर आए हैं। इन कापालिकों के बारह ही आचार्य प्रसिद्ध हैं। (आचार्यों और शिष्यों के नाम के लिये दे० पृ० ४ की टिप्पणी)। पुनर्गठित बारह संप्रदाय इस प्रकार हैं [2]—

शिवद्वारा प्रवर्तित :—

१. भूज (कच्छ) के कंठरनाथ
२. पेशावर और रोहतक के पागलनाथ
३. अफगानिस्तान के रावल
४. पंख या पंक
५. मारवाड़ के बन
६. गोपाल या राम के

गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित :—

१. हेठनाथ
२ आईपंथ के चोलीनाथ
३. चाँदनाथ कपिलानी
४. रतढोंडा, मारवाड़ का वैरागपंथ और रतननाथ
५. जयपुर के पावनाथ
६. धजनाथ महावीर

इन शाखाओं की बहुत-सी उपशाखाएँ हैं। कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध उपशाखाओं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। परन्तु इतना ध्यान में रखना चाहिए कि इन बारह पंथों के बाहर भी ऐसे अनेक संप्रदाय हैं जिनका स्पष्ट संबंध इन छः मार्गों से नहीं जोड़ा जा सका है। हो सकता है कि वे गोरखनाथ द्वारा तोड़ दिए हुए कुछ पंथों के अनुयायी ही हों। ये लोग शिव या गोरखनाथ से अपना सम्बन्ध किसी न किसी तरह जोड़ ही लेते हैं।

---

१. ब्रिग्स : पृ० ६३

२. ब्रिग्स : पृ० ६३ के आधार पर। इन संप्रदायों की यह सर्वसम्मत सूची नहीं समझी जानी चाहिए।

ऊपर जिन बारह मुख्य पंथों के नाम गिनाए गए हैं वे ही पुराने विभाग हैं। पर आजकल बारह पंथों में निम्नलिखित पंथ ही माने जाते हैं—(१) सतनाथ, (२) रामनाथ, (३) धरमनाथ, (४) लक्ष्मणनाथ, (५) दरियानाथ, (६) गंगानाथ, (७) बैराग, (८) रावल या नागनाथ, (९) जालंधरिपा, (१०) आईपंथ, (११) कपिलानी और (१२) धजनाथ। गोरखपुर में सुनी हुई परंपरा के अनुसार चौथी संख्या नाटेसरी और पाँचवी कन्हड़ है,। आठवीं संख्या माननाथी, नवीं आईपंथ और दसवीं पागलपंथ है। ऊपर के संबंधों का विवेचन करने पर दोनों अनुश्रुतियों में कोई विशेष अंतर नहीं दिखता। केवल एक के अनुसार जो उपशाखा है वह दूसरी के अनुसार पंथ है। तेरहवां महत्त्वपूर्ण पंथ कानिपा का है जिसके विषय में ऊपर (पृ० ७) थोड़ी चर्चा हो चुकी है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक पंथ हैं जिनका किसी बड़ी शाखा से संबंध नहीं खोजा जा सका। हाड़ी भारंग की चर्चा ऊपर हो चुकी है। वे लोग बंबई में रसोइए का काम करते पाए जाते हैं। गोरखनाथ के एक शिष्य सक्करनाथ थे जिन्हें उनके रसोइए ने स्वाद जानने के लिये पहले ही चखकर बनाई हुई दाल दी थी। इसी अपराध के कारण चार वर्ष तक उसे गले में हांड़ी बांधकर भीख मांगने का दण्ड दिया गया। बाद में सिद्धि प्राप्त करने के कारण इन्होंने अपना अलग पंथ चलाया। मुख्य स्थान पूने में है। इसके अतिरिक्त कायिकनाथी, पायलनाथी, उदयनाथी, आरयपंथ, फीलनाथी, चर्पटनाथी,[1] गैनो या गाहिणीनाथी[2], निरंजननाथ[3], वरंजोगी, पा-पंक, कामभज, काषाय, अर्धनारी, नायरी, अमरनाथ, कुंभीदास, तारकनाथ[4], असापंथी, भृंगनाथ[5] आदि अनेक उपशाखाएं हैं जिनका विस्तार समूचे भारत-वर्ष और सुदूर अफ़ग़ानिस्तान तक है।[6]

एक दूसरी परम्परा के अनुसार मत्स्येंद्रनाथ ने चार सम्प्रदाय चलाए थे—गोरखनाथी, पंगल या अरजनंगा (रावल) मीननाथ सिवतोर, पारसनाथ पूजा। अन्तिम दोनों जैन हैं।

---

१. वर्ण रत्नाकर के इकतीसवें सिद्ध, हठ० के १६ वें सिद्ध तथा तिब्बती परंपरा के ५६ वें सिद्ध का नाम चर्पटी या चर्पटीनाथ है।

२. नामदेव परंपरा के गैनीनाथ और बहिनीबाई की परंपरा के गाहिनी नामक सिद्धा का उल्लेख है।

३. हठ० के बीसवें सिद्ध।

४. तारकनाथ विलेशय के शिष्य थे—यो० सं० आ०, पृ० २४६

५. नेपालराज के कमंडलु में भृंगरूप से प्रवेश करने के कारण मत्स्येंद्रनाथ का एक नाम भृंगनाथ था। कौलज्ञाननिर्णय पृ० ५८, श्लोक १७ में मत्स्येंद्रनाथ को भृंगपाद कहा गया है।

६. ब्रिग्सः पृ० ७३-७४

गोरक्ष[1] के निम्नलिखित शिष्यों ने पंथ चलाए—

कपिल मुनि, करकाई, भूष्टाई, सक्करनाथ, संतनाथ, संतोषनाथ और लक्ष्मणनाथ।

कपिल मुनि के शिष्य अजयपाल हुए जिन्होंने कपिलानी पंथ चलाया। इसी परम्परा में एक दूसरे सिद्ध गंगानाथ हुए जिनका अलग पंथ चला।

करकाई शाखा में आईपंथ के प्रवर्तक चोलीनाथ हुए। इनका सम्बन्ध भूष्टाई से भी बताया जाता है।

सक्करनाथ का कोई अपना सम्प्रदाय नहीं है पर हाड़ी भरंग संप्रदाय इनके ही शिष्य का प्रवर्तित है।

संतनाथ के शिष्य धर्मनाथ हुए जिन्होंने अपना पंथ चलाया। सन्तोषनाथ के शिष्य रामनाथ हुये। जाकिर पीर भी इन्हीं के साथ अपना सम्बन्ध बताते हैं।

लक्ष्मणनाथ की शाखा में नटेसरी और दरियानाथ पड़ते हैं।

जालंधरनाथ के दो शिष्य हुए—भरथरीनाथ और कानिपा।

कानिपा संप्रदाय से सिद्ध सांगरी सम्प्रदाय उद्भूत हुआ।

(४) नाथ योगी का वेश

नाथ योगी को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। मेखला, शृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्ण, मुद्रा, बघंबर, झोला आदि चिह्न ये लोग धारण करते हैं। पहले ही बताया गया है कि कान फाड़कर कुंडल धारण करने के कारण ये लोग कनफटा कहे जाते हैं। कान फड़वाने की प्रथा किस प्रकार शुरू हुई इस विषय में नाना प्रकार की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कुछ लोग बताते हैं कि स्वयं मत्स्येंद्रनाथ (मछन्दरनाथ) ने इस प्रथा का प्रवर्तन किया। उन्होंने शिव के कानों में कुण्डल देखा था और उसे प्राप्त

---

१ योगि संप्रदायाविष्कृति के अनुसार मत्स्येंद्रनाथ और जालन्धरनाथ (ज्वालेंद्रनाथ) की शिष्य परंपरा इस प्रकार है :—
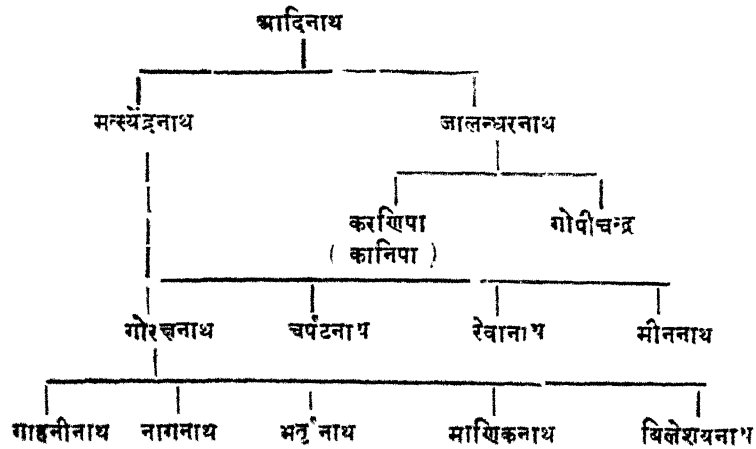
करने के लिये कठिन तपस्या की थी, एक दूसरा विश्वास यह है कि गोपीचन्द्र की प्रार्थना पर जालन्धरनाथ ने इस पथ के योगियों को अन्य सम्प्रदाय वालों से विशिष्ट करने के लिये इस प्रथा को चलाया था। कुछ लोगों का कहना है कि गोरखनाथ ने भरथरी का कान फाड़कर इस प्रथा को चलाया था। भरथरी के कान में गुरु ने मिट्टी का कुण्डल पहनाया था। अब भी बहुत-से योगी मिट्टी का कुण्डल धारण करते हैं परन्तु इसके टूटने की सदा आशङ्का बनी रहती है इसलिये धातु या हरिण के सींग की मुद्रा धारण की जाती है। जो विधवा स्त्रियाँ सम्प्रदाय में दीक्षित होती हैं वे भी कुण्डल धारण करती हैं और गृहस्थ योगियों की पत्नियाँ भी इसे धारण करते पाई जाती हैं। गोरखपंथी लोग किसी शुभ दिन को (विशेष कर वसन्त पञ्चमी को) कान को चिरवाकर मंत्र के संस्कार के साथ इस मुद्रा को धारण करते हैं। उन लोगों का विश्वास है कि स्त्रियों के दर्शन से घाव पक जाता है इसलिये जब तक घाव अच्छा नहीं हो जाता तब तक स्त्री-दर्शन से बचने के लिये किसी कमरे में बंद रहते हैं, और फलाहार करते हैं [१] कान का फट जाना भावाजोखी का व्यापार माना जाना है। जिस योगी का कान खराब हो जाता है वह सम्प्रदाय से अलग हो जाता है और पुजारी का अधिकार खो देता है।[२] यह कर्णकुण्डल निस्संदेह योगी लोगों का बहुत पुराना चिह्न है परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इसे नहीं धारण करते। ये लोग औघड़ कहे जाते हैं। औघड लोगों का जब कर्णमुद्रा-संस्कार हो जाता है तब उन्हें योगी कनफटा कहा जाता है। ऐसे भी औघड़ हैं जो आजीवन कर्णमुद्रा धारण करते ही नहीं। कहते हैं कि हिंगलाज में दो सिद्ध एक शिष्य का कान चीरने लगे थे पर हरबार छेद बन्द हो जाता था। तभी से औघड़ लोग कान चिरवाते ही नहीं।[३] सुधारक मनोवृत्ति के योगी लोग मानते हैं कि श्रीनाथ ने यह प्रथा इसलिये चलाई होगी कि कान चिरवाने की पीड़ा के भय से अनधिकारी लोग इस सम्प्रदाय में प्रवेश ही नहीं कर सकेंगे [४]।

पद्मावत में मलिक मुहम्मद जायसी ने योगियों के वेश का सुन्दर वर्णन दिया है। उस पर से अनुमान किया जा सकता है कि योगियों का जो वेश आज है वह दीर्घ काल से चला आ रहा है। राजा ने हाथ में किंगरी सिर पर जटा, शरीर में भस्म, मेखला, शृंगी, योग को शुद्ध करने वाला धँधारी चक्र, रुद्राक्ष और अधार (आसन का पीढ़ा) धारण किया था कंथा पहन कर हाथ में सोंटा लिया था और 'गोरख गोरख' की रट लगाता हुआ निकल पड़ा था, उसने कंठ में मुद्रा कान में रुद्राक्ष की माला, हाथ में कमण्डल, कंधे पर बघम्बर (आसन के लिये), पैरों में पाँवरी सिर पर छाता और बगल में खप्पर धारण किया था। इन सब को उसने गेरुए रंग

---

१. सु० चं०, पृ० २४१

२ ब्रिग्सः पृ० ८-९

३. ट्रा० का० सें० प्रो० २य भाग पृ० ३९८, ब्रिग्स ने लिखा है कि औघड़ लोगों को योगियों से आधी ही दक्षिणा मिलती है। कहीं कहीं समान भी मिलती है।

४. यो० सं० आ०

में रंगकर लाल कर लिया था।[1] कबीरदास के अनेक पदों से पता चलता है कि जोगी लोग मुद्रा, नाद, कंथा, आसन, खप्पर, झोली, विभूति, बटुवा आदि धारण करते थे, यंत्र अर्थात सारंगी यंत्र का व्यवहार करते थे (गोपीचन्द्र का चलाया हुआ होने के कारण सारंगी को गोपीयंत्र कहते हैं), मेखला और भस्म धारण करते थे। (क० ग्रं० २०५, २०६, २०७, २०८) और अजपा जाप करते थे (२०९)[2] इसी प्रकार सूरदास के भ्रमरगीत में गोपियों ने जिन योगियों की चर्चा की है उनका भी यही वेश वर्णित है।

इन चिह्नों में किंगरी एक प्रकार की चिकारी है जिसे पौरिये या भर्तृहरि के गीत गाने वाले योगी लिए फिरते हैं, मेखला मूंज की रस्सी का कटिबंध है[3] और सींगी हरिण के सींग का बना हुआ एक बाजा है जो मुँह से बजाया जाता है। औघड़ और योगी दोनों ही एक प्रकार का 'जनेव' धारण करते हैं जो काले भेड़े की ऊन से बनाया जाता है। हर कोई उसे नहीं बना सकता। संप्रदाय के कुछ लोग ही, जो इस विद्या के जानकार होते हैं, उसे बनाते हैं। ब्रिग्स (पृ० ११) ने लिखा है कि कुमायूं के योगी रुई के सूत का 'जनेव' भी धारण करते हैं। इसी सूत में एक गोल 'पवित्री' बंधी रहती है जो हरिण की सींग या पीतल तांबा आदि धातु से बनी होती है। इसमें रुई के सफेद धागे से शृंगी (सिंगी नाद) नाम की सीटी बंधी रहती है और रुद्राक्ष की एक मनिया भी झूलती रहती है। प्रातः और संध्या कालीन उपासना के पूर्व और भोजन ग्रहण करने के पूर्व योगी लोग इसे बजाया करते हैं। इस सिंगनाद के बंधे रहने के कारण ही 'जनेव' को 'सिंगीनाद-जनेव' कहते हैं। मेखला सब योगी नहीं धारण करते। कुछ योगी काले भेड़े के ऊन की बनी मेखला कमर में बांधते हैं। लंगोटी पहनने में इस मेखला का उपयोग होता है। एक और प्रकार की मेखला होती है जिसे धारण करने के बाद योगी को भिक्षा के लिये निकलना ही पड़ता है। इसे हाल मटंगा कहते हैं।[4] ऐसे योगी भी हैं जो सिंगनाद जनेव नहीं धारण करते और दावा करते हैं कि ये चिह्न उन्होंने अन्तर में धारण किया है या चमड़े के नीचे पहने हुए हैं। मस्तनाथ नामक सिद्ध के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने चमड़े

---

१. पद्मावत, जोगी खंड, १२, १२८

२. बंगाल के पुराने नाथपंथी अपने को योगी या कापालिक कहते थे। वे कान में मनुष्य की हड्डियों का कुण्डल और गले में हड्डियों की ही माला धारण करते थे। पैरों में ये लोग नूपुर और हाथ में नर कपाल लेते थे और शरीर में भस्म लगाया करते थे —श्री सुकुमार सेन: प्राचीन बांगला ओ बाङ्गाली, विश्व विद्या संग्रह सिरीज शांति निकेतन पृ० ३३। ऐसा जान पड़ता है कि कर्णकुण्डल धारण करने की प्रथा बहुत पुरानी है साधनमाला नामक वज्रयानी साधन ग्रंथों में 'हेरुक' के ध्यान में कहा गया है कि वे कानों में नरास्थि की माला धारण करते हैं। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

३. सु० बं०: पृ० २३८, २३९

४. ब्रिग्सः पृ० ११, १२

के नीचे जनेव दिखा दिया था। कबीरदास ने उसी योगी को योगी कहना उचित समझा था जो इन चिह्नों को मन में धारण करता है।[1]

'धंधारी' एक तरह का चक्र है। गोरखपंथी साधु लोहे या लकड़ी की शलाकाओं के हेर फेर से चक्र बना कर उसके बीच में छेद करते हैं। इस छेद में कौड़ी या मालाकार धागे को डाल देते हैं। फिर मंत्र पढ़ कर उसे निकाला करते हैं। बिना क्रिया जाने उस चक्र में से सहसा किसी से डोरा या कौड़ी नहीं निकल पाती। ये चीजें चक्र की शलाकाओं में इस प्रकार उलझ जाती हैं कि निकालना कठिन पड़ जाता है। जो निकालने की क्रिया जानता है वह उसे सहज ही निकाल सकता है। यही 'धांधरी' या गोरखधंधा है। गोरखपंथियों का विश्वास है कि मंत्र पढ़ पढ़ कर गोरखधंधे से डोरा निकालने से गोरखनाथ की कृपा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं और संसार-चक्र में उलझे हुए प्राणियों को डोरे की भांति इस भवजाल से मुक्त कर देते हैं।[2]

रुद्राक्ष की माला प्रसिद्ध ही है। योगी लोग जिस माला को धारण करते हैं। उस में ३२, ६४, ८४ या १०८ मनके होते हैं। छोटी मालायें जिन्हें 'सुमिरनी' कहते हैं १८ या २८ मनकों की होती है और कलाई में बँधी रहती है। रुद्राक्ष शब्द का अर्थ रुद्र या शिव की आंख है। तंत्रशास्त्र के मत से यह माला जपकार्य में विशेष फलदायिनी होती है। इस रुद्राक्ष में जो खरबूजे के फाँक जैसी जो रेखायें होती हैं उसे 'मुख' कहते हैं। जप में प्राय: पंचमुखी रुद्राक्ष का विशेष महत्त्व है। एकमुखी रुद्राक्ष बड़ा शुभ माना जाता है। घर में उसके रहने से लक्ष्मी अविचल हो कर बसती हैं। जिसके गले में एकमुखी रुद्राक्ष हो उस पर शस्त्र की शक्ति नहीं काम करती—ऐसा विश्वास है। एकमुखी रुद्राक्ष असल में एकमुखी ही है या नहीं इस बात की परीक्षा के लिये प्राय: भेड़े के गले में बांध कर परीक्षा की जाती है। यदि भेड़े की गर्दन शस्त्र से कट जाय तो वह नक़ली माना जाता है। यदि न कटे तो सच्चा एकमुखी रुद्राक्ष समझा जाता है[3]। ग्यारह मुख वाला रुद्राक्ष भी बहुत पवित्र समझा जाता है। गृहस्थ योगी साधारणतः दोमुख वाले रुद्राक्ष से जप करने को अधिक फलदायक मानते हैं।

'अधारी' (=आधार) काठ के डंडे में लगा हुआ काठ का पीढ़ा (आसा) है जिसे योगी लोग प्राय: लिये फिरते हैं और जहां कहीं रख कर उस पर बैठ जाते हैं।

---

१. सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
रात दिवस ना करई निद्रा ॥ टेक ॥
मन में आसण मन में रहणां। मन का जप तप मन सूं कहँणां ॥
मन मैं षपरा मन मैं सींगी। अनहदनाद बजावै रंगी ॥
पंच प्रजारि भसम करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका।

क.ग्रं. पद २०६, पृ० १५८

२. सु. चं: पृ०।२३६

३. वही: पृ० २४०

बिना अभ्यास के इस पर बैठ सकना असंभव है[1]। कंथा गेरुए रंग की सुजनी का चोलना है जो गले में डाल लेने से अंग को ढाँक लेता है। इसी को गूदरी कहते हैं। यह फटे पुराने चिथड़ों को बटोर कर सी ली जानी चाहिए[2]। गेरुआ या लाल रंग ब्रह्मचर्य का साधक माना जाता है। इसे धारण करने से वीर्यस्तंभ की शक्ति बढ़ती है। क्रुक्स ने एक दन्तकथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पार्वती ने पहले पहल अपने रक्त से रंग कर एक चोलना गोरखनाथ को दिया था। कहते हैं तभी से लाल (गेरुआ) रंग योगी लोगों का रंग हो गया है। 'सोंटा' झाड़ फूंक करने का डंडा है जो हाथ डेढ़ हाथ के काले रूलर के ऐसा होता है। बहुत से योगी इसे भैरवनाथ का और बहुत से गोरखनाथ का डंडा या सोंटा कहते हैं[2]। योगी लोग शरीर में भस्म लगाते हैं और ललाट पर और बाहुमूल तथा हृदय देश पर भी त्रिपुण्ड्र लगाया करते हैं। गूदरी का धारण करना योगी के लिए आवश्यक नहीं है। बहुत योगी तो आरबंद (मेखला) से बंधी हुई लगोटी ही भर धारण करते हैं और बहुत से ऐसे भी मिलते हैं जो लंगोटी भी नहीं धारण करते[3]। 'खप्पर' मिट्टी के घड़े के फोड़े हुये अर्द्ध भाग को कहते हैं आज कल यह दर्यायी नारियल का बनता है। बहुत से योगी काँसे का भी खप्पर रखते हैं इसलिए खप्पर को 'काँसा' भी कहते हैं। खप्पर का एक मनोरंजक अवशेष 'जोगीड़े' नामक अश्लील गानों के गाते समय लिया हुआ चौड़े मुँह का वह घड़ा है जिसमें गुरु लोग आँख रखकर जादू से हाथ पर लिये फिरते हैं।[4]

योगिसंप्रदायाविष्कृति नामक ग्रंथ में[5] इन चिह्नों के धारण करने की विधि और कारण के बारे में यह मनोरंजक कहानी दी हुई है। जब मत्स्येंद्रनाथ जी से प्रसन्न होकर शिवजी ने कहा कि तुम वर माँगो तो उन्होंने शिवजी का स्वरूप ही वरदान में माँगा। शिवजी ने पहले तो इतस्ततः किया पर मत्स्येंद्रनाथ की तपस्या से प्रसन्न होकर अन्त में अपना वेश दान करने को राजी हो गए। फिर प्रथम तो सिर में विभूति डालकर भस्मस्नान कराया और उसका यह तात्पर्य बताया कि यह भस्म अर्थात् मृत्तिका है, इसके शरीर में धारण करने का अभिप्राय यह है कि योगी अपने को मानापमान के अतीत जड़धरित्री के समान समझें या अग्नि-संयोग से भस्म रूप में परिणत हुए काठ की तरह ज्ञानाग्नि दग्ध होकर अपनी कठोरता आदि को छोड़ दे और ज्ञानाग्नि के संयोग से अपने कृत्यों को भस्मसात् कर दे। फिर जलस्नान कराया और उसके दो अभिप्राय बताए। एक तो यह कि मेघ जिस प्रकार जल को समान भाव से भूतमात्र के लिये वितरण करता है उसी प्रकार तुम समस्त प्राणियों के साथ

---

१. सु० च० : पृ० २४०

२. वही : पृ० २४०

३. ब्रिग्स : पृ० १६-२०

४. सु० : च० पृ० २४१

५. यो० सं० आ० पृ० २०-२१

समान व्यवहार करना और दूसरा यह कि पानी जिस प्रकार तप्त होने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता उसी प्रकार तुम भी अपना स्वभाव न छोड़ना। इसके अनन्तर श्री महादेव जी ने तीसरे उन्हें 'नाद-जनेउ' पहनाया और उसका यह अभिप्राय समझाया: काष्ठादि का बनाया हुआ यह नाद है। नाद अर्थात् शब्द। इसके धारण करने का मतलब यह हुआ कि अब से शिष्य अपनी उत्पत्ति 'नाद' से समझे। (शब्द गुरु और श्रोता चेला—ऐसा योगियों का सिद्धान्त है) और यह ऊर्णादि निर्मित 'जनेउ' जिस प्रकार संसार के अन्य 'जनेउओं' से भिन्न है उसी प्रकार तुम अपने को संसार से भिन्न समझना। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के धारण करने का ठीक-ठीक कारण समझाने के बाद महादेव जी ने कुण्डलादि अपने अनेक चिह्न मत्स्येंद्रनाथ जी को दिये। तभी से संप्रदाय में यह प्रथा प्रचलित हुई। इतना लिखने के बाद ग्रंथकार ने बड़े खेद के साथ लिखा है कि आजकल संप्रदाय में इन अभिप्रायों को कोई नहीं जानता। इस ज्ञान के अभाव का कारण उन्होंने यह बताया है कि धनाढ्य महन्त लोग शिमला मंसूरी नैनीताल और आबू जैसी जगहों में हवा बदलने जाते हैं और उनके पीछे उनके स्थानों पर उन्हीं के नाम पर शिष्य बनाए जाते हैं। अब भला जिस शिष्य ने वेश ग्रहण करने के समय जिस व्यक्ति के शब्द को गुरु समझा है उसका मुंह-मत्था भी नहीं देखा वह उन चिह्नों का क्या अभिप्राय समझ सकता है!

इब्नबतूता नामक मिश्री पर्यटक जब भारत आया था तो उसने इन योगियों को देखा था। उसने लिखा है कि उन (योगियों) के केश पैर तक लम्बे होते हैं, सारे शरीर में भभूत लगी रहती है और तपस्या के कारण उनका वर्ण पीत हो गया होता है। चमत्कार प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त करने के इच्छुक बहुत से मुसलमान भी इनके पीछे लगे फिरते हैं, मावरा उन्नहर के सम्राट 'तरम शीरीं, के कैंप में बतूता ने इनको सर्व प्रथम देखा था। गिनती में ये पूरे पचास थे। इनके रहने के लिये धरती में गुफाएँ बनी हुई थीं और वहां ये अपना जीवन व्यतीत करते थे, केवल शौच के लिये बाहर आते थे और प्रातः सायं तथा रात्रि में शृंग के सदृश किसी वस्तु को बजाया करते थे।[१] इब्नबतूता ने इन योगियों की अद्भुत करामातों को स्वयं देखा था। बतूता की गवाही पर यह मान लिया जा सकता है कि दीर्घ काल से साधारण जनता इन योगियों को भय की दृष्टि से देखती रही है। उन दिनों ग्वालियर के पास किसी बरौन नामक ग्राम में एक बाघ का बड़ा उपद्रव था। लोगों ने बतूता को बताया कि वह कोई योगी है जो बाघ का रूप धर के लोगों को खा जाता है

कबीरदास के जमाने में ही योगियों का सैनिक संगठन हो चुका था। उन्होंने इन

---

१. इ० भा० या० : पृ० २६२-३

२. वही पृ० २८८

योगियों की इस विचित्र लीला का बड़ा मनोहर वर्णन दिया है[1]। सोलहवीं शताब्दी में इन योगियों से सिक्खों की घनघोर लड़ाई हुई थी। दिनोधर के मठ की दीवारों में शस्त्र फेंकने के लिये छिद्र बने हुए हैं जो निश्चय ही आत्मरक्षा के उद्देश्य से बने होंगे। कच्छ के योगी सोलहवीं शताब्दी में भयंकर हो उठे थे वे अतीथों को जबर्दस्ती कनफटा बनाते थे। बाद में अतीथों ने संगठित होकर लोहा लिया था। इन अतीथों का प्रधान स्थान जूनागढ़ था। इस लड़ाई में योगियों की शक्ति टूट गई थी[2]।

(५) गृहस्थ योगी

नाथमत को मानने वाली बहुत सी जातियाँ घर बारी हो गई हैं। भारतवर्ष के हर हिस्से में ऐसी जातियों का अस्तित्व पाया जाता है। शिमला पहाड़ियों के नाथ अपने को गोरखनाथ और भरथरी का अनुयायी मानते हैं। ये लोग गृहस्थ होकर एक जाति ही बन गए हैं। यद्यपि ये भी कान चीर कर कुण्डल ग्रहण करते हैं पर इनकी मर्यादा कनफटे योगियों से हीन मानी जाती है। ये लोग उत्तरी भारत के महाब्राह्मणों के समान श्राद्ध के समय दान पाते हैं[3]। ऊपरी हिमालय के नाथों में भी कानचिरवा कर कुण्डल धारण करने की प्रथा है परन्तु घर में कोई एक या दो आदमी ही ऐसा करते हैं। ऐसा करने वाले 'कनफटा नाथ' कहलाते हैं। ये भी गृहस्थ हैं। और इनकी मर्यादा भी बहुत ऊँची नहीं है हेली जैसी नीच समझी जाने वाली जाति के लोग भी इनका अन्न जल नहीं ग्रहण करते[4]। अलमोड़े में सतनाथी और धर्मनाथी संप्रदाय के गृहस्थ योगी हैं। इनके परिवार का कोई एक लड़का कान में कुण्डल धारण कर लेता है[5]। योगियों में विवाह की प्रथा भी पाई जाती है। कहीं कहीं ब्राह्मण विवाह का संस्कार कराते हैं और कहीं कहीं नाथ-ब्राह्मण नामक जाति। पंजाब में गृहस्थ योगियों को रावल कहा जाता है। ये लोग भीख माँगकर करामात दिखाकर हाथ देखकर अपनी जीविका चलाते हैं। पंजाब के संयोगी अब एक जाति ही बन गए हैं। अम्बाला के सयोगियों के बारह पंथ भी हैं पर ये सब गृहस्थ हैं। गढ़वाल के नाथ भैरव के उपासक

१. ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गाफिलाई।
　महादेव को पंथ चलावै। ऐसो बड़ो महंत कहावै।
　हाट बजारैं लावैं तारी। कच्चे सिद्धन माया प्यारी।
　कब दत्ते मावासी गोरी। कब सुख देव तोपची जोरी।
　नारद कब बंदूक चलाया। व्यासदेव कब बंब बजाया।
　करईं लराई मति कै मंदा। ई अतीत की तरकस बंदा।
　भए विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावैं बाना।
　घोरा घोरी कीम बटोरा। गाँव पाय जस चलैं करोरा॥

—बीजक ६१वीं रमैनी

२. ब्रो० पं० ट्रा० का: पृ० १६५
३. वही: पृ० १६१
४. वही: पृ० १३१
५. ब्रिग्स: पृ० ४७

हैं, नादी-सेली पहनते हैं और सन्तान भी उत्पन्न करते हैं। अब यह भी एक अलग जाति बन गए हैं [१]।

साधारणतः वयनजीवी जातियाँ जैसे तांती जुलाहे, गड़ेरिए, दरजी आदि नाथ मत के मानने वाले गृहस्थों में पड़ती हैं। सूत का रोजगार योगी जाति का पुराना व्यवसाय है। बहुत सी गृहस्थ योगियों की जातियाँ मुसलमान हो गई हैं और अपने को अब भी गिरस्त या गृहस्थ कहती हैं। अलईपुरा के जुलाहे ऐसे ही हैं[३]। हमने अपनी क बी र नामक पुस्तक में दिखाया है कि कबीरदास ऐसी ही किसी गिरस्त योगी जाति के मुसलमानी रूप में पैदा हुए थे। बुंदेलखंड के गड़ेरिए नाथ योगियों के अनुयायी हैं। उनके पुरोहित भी 'योगी' ब्राह्मण होते हैं जो उनके विवाहादि संस्कार कराते हैं। विवाह के मंत्रों में गोरखनाथ और मछन्दरनाथ के नाम भी आते हैं [३]। शेख फैजुल्लाह नामक बंगाली कवि की एक पुस्तक गो र क्ष वि ज य है। इसके संपादक श्री अब्दुल करीम साहब का दावा है कि पुस्तक पांच छः सौ वर्ष पुरानी होगी। इस पुस्तक में कदली देश की जोगिन (अर्थात् योगी जाति की स्त्री) से गोरखनाथ को भुलावा देने के प्रसंग में इस प्रकार कहवाया गया है—"तुम जोगी हो, जोगी के घर जाओगे, इसमें भला सोचना विचारना क्या है। हमारा तुम्हारा गोत्र एक है। तुम बलिष्ठ योगी हो मैं जवान जोगिन हूँ, फिर क्यों न हम अपना व्यवहार शुरू कर दें, क्यों हम किसी की परवा करें...मैं चिकना सूत कात दूँगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाट में बेंचने ले जाओगे और इस प्रकार दिन दिन सम्पत्ति बढ़ती जायगी जो तुम्हारी झोली और कंथा में अँटाए नहीं अँटेगी [४]। इससे सिद्ध होता है कि बहुत प्राचीन काल से वयनजीवी जातियाँ योगी हैं। आधुनिक योगी भी सूत के द्वारा अनेक टोटका करते हैं और गोरखधंधे से सूते की ही करामात दिखाते हैं।

बंगाल में जुगी या योगी वयनजीवी जाति है। सन् १९२१ में अकेले बंगाल में इनकी संख्या ३६५९१० थी। आजकल ये लोग अपने को योगी ब्राह्मण कहते हैं [५]। टिपरा जिले के कृष्ण चन्द्र दलाल ने इन्हें बदस्तूर ब्राह्मण बनाने और जनेऊ धारण करने का अन्दोलन किया था। इस प्रकार वयनजीवियों में इस मत का बहुत कुछ

१. ग ढ़ वा ल का इ ति हा सः पृ० २०१

२. श्री राय कृष्णदास जी के एक पत्र के आधार पर।

३. लो क वा र्ता वर्ष १ अंक २ में श्री रामस्वरूप योगी का लेख द्रष्टव्य है। वैवाहिक शाखोचार के मंत्र का एक अंश इस प्रकार है, 'गाय गोरख की भैंस मछंदर की, छेरी अजैपाल की, गाडर महादेव की चरती आय चरती आय जहाँ महादेव कीवि गी बाजै······इत्यादि।

४. गो र क्ष वि ज यः कलकत्ता (१३२४ बं० सन्) पृ० ६५-७

५. क बी र : पृ० ७

६. क्षितिमोहन सेनः भा र त व र्ष में जा ति भे द. पृ० १४४

प्रचार था। यह तो नहीं जाना जा सका कि सभी वयनजीवियों में [1] योग परंपरा के चिह्न हैं परंतु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वयनजीवी जातियों में अपनी वर्तमान स्थिति के बारे में असन्तोष है और वे सभी किसी ब्राह्मणेतर परंपरा से संबद्ध अवश्य थीं।

---

२. बेन्स ने निम्नलिखित वयनजीवी जातियों का उल्लेख किया है :—

	नाम	प्रदेश	१९०१ की जन संख्या
रुई सूत के वयनजीवी—	पटनूली	पश्चिम भारत	९०५००
	पटवे	उत्तर और मध्य भारत	७२०००
	खतरी	पश्चिम भारत	५६२०००
	ताँती	बंगाल	७७२३००
	ततवा	बिहार	१९७९००
	पेरिके	तामिल	६३०००
	जयाप्पन	,,	८३०००
	कपाली	बंगाल	१४४७००
	धोर	दाक्षिणात्य	२४४००
	पाँका	मध्यभारत	७२६५००
	गाँडा	पूर्व-मध्यभारत	२७७८००
	डोंबा	बिहार	७६४००
	कोरी	उत्तर भारत	१२०४७००
	जुलाहा	उत्तर भारत	२९०७९००
	बलाही	राजपूताना, उ॰ भा॰	२८५१००
	कैकोलन	तामिल	३५४७००
	साले	दक्षिण	६३९३००
	तोगट	कर्नाटक	६५५०००
	देवांग	,,	२८८९०००
	नेयिगे	,,	९७०००
	जुगी	बंगाल	५३६६००
	कोष्टी	दक्षिण, मध्यभारत	२७७४००
ऊन के वयनजीवी—	गद्दी	पंजाब	१०३८००
	गड़रिया	उ॰ भा॰	१२७२४००
	धंगर हातकर	द॰ भा॰	१०१५८००
	कुरुबर	,,	१०६८००
	इडइयन	तामिल	७०२७००
	भरवाड़	पश्चिम भा॰	१०२९००

रिजली ने बंगाल के योगियों को दो श्रेणी का बताया है। दक्षिणी विक्रमपुर, त्रिपुरा और नोयाखाली के योगी मास्थ योगी कहलाते हैं और उत्तर विक्रमपुर और ढाका के योगी एकादशी कहलाते है।[१] रंगपुर जिले के योगियों का काम कपड़ा बुनना, रंगसाजी और चूना बनाना है। अब ये लोग अपना पेशा छोड़ते जा रहे हैं। इनके स्मारणीय महापुरुष हैं—गोरखनाथ, धीरनाथ, छायानाथ, और रघुनाथ आदि। इनके परम उपास्य देवता 'धर्म' है। इनके गुरु और पुरोहित ब्राह्मण नहीं होते बल्कि इनकी अपनी ही जाति के लोग होते हैं पुरोहितों को 'अधिकारी' कहते हैं। चौरकर्म के समय बालकों का कान चीर देना निहायत जरूरी समझा जाता है। मृतक को समाधि दी जाती है। रंगपुर के योगियों का प्रधान व्यवसाय चूना बनाना और भीख मांगना है परन्तु ढाका और टिपरा (त्रिपुरा) जिले में उनका व्यवसाय वस्त्र बुनना ही है।[२] निजाम-राज्य के दवरे और रावल भी नाथ योगियों का गृहस्थ रूप है। इनके बच्चों के कान छेदने का संस्कार होता है और मृतकों को समाधि दी जाती है। बंबई प्रान्त के नाथों में जो मराठे और कर्नाटकीय हैं वे गृहस्थ हैं। कोंकण के गोसवी भी अपने को नाथ योगियों से संबंद्ध बताते हैं। इनका भी कर्ण-छेद संस्कार होता है। इस प्रकार की योगी जातियाँ बरार गुजरात महाराष्ट्र करनाटक, और दक्षिण भारत में भी पाई जाती हैं।[३]

इस प्रकार क्या वैराग्यप्रवण और गार्हस्थप्रवण सैकड़ों योगी संप्रदाय और जातियां समूचे भारत में फैली हुई हैं। यह परंपरा वैदिक धर्म से भिन्न थी और अब भी बहुत कुछ है, इसका आभास ऊपर के विवरण से मिल गया होगा। हम आगे चल कर देखेंगे कि अनुमान निराधार नहीं है।

---

१. ब्रिग्स. : पृ० ५१

२. गो पी चं दे र गा न : (कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, द्वितीय भाग, भूमिका पृ० ३६-३७

३. ब्रिग्स : (पृ० ४४-६१) ने इस प्रकार की अनेक योगी जातियों का विवरण अपनी पुस्तक में दिया है। विशेष विस्तार के लिये वह ग्रंथ द्रष्टव्य है।

२

संप्रदाय के पुराने सिद्ध

ह ठ यो ग प्र दी पि का के आरंभ में ही नाथपंथ के अनेक सिद्धयोगियों के नाम दिए हुए हैं। विश्वास किया जाता है कि सिद्ध लोग आज भी जीवित हैं। ह ठ यो ग प्र दी पि का की सूची में जिन सिद्धों के नाम हैं वे ऐसे ही हैं जो कालदण्ड को खंडित करके ब्रह्माण्ड में विचर रहे हैं। नाम इस प्रकार हैं [१] :—

आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, सारदानंद, भैरव, चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मंथानभैरव, सिद्धबोध, कन्हड़ीनाथ, कोरंटकनाथ, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटीनाथ, कानेरीनाथ, पूज्यपाद, नित्यनाथ. निरंजननाथ, कापालिनाथ, विंदुनाथ, काकचण्डीश्वर, मयनाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोड़ाचूलीनाथ, टिण्डिणीनाथ, भल्लरी नाथ नागबोध और खण्डकापालिका। इनमें से अनेक सिद्धों के नाम-कोई अनुश्रुति शेष नहीं रह गई है। कुछ के नाम तांत्रिकों, योगियों और निर्गुणिया सन्तों की परंपरा में बचे हुए हैं और कुछ की अभिन्नता सहजयानी और वज्रयानी सिद्धों से स्थापित की जा सकती है। कुछ सिद्धों के विषय में करामाती कहानियाँ प्रचलित हैं पर उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक नहीं है।

सबसे आदि में नव मूलनाथ हुए हैं जिन्होंने संप्रदाय का प्रवर्तन किया था—ऐसी प्रसिद्धि है। पर ये नौ नाथ कौन कौन थे इसकी कोई सर्वसम्मत परंपरा बची नहीं है। म हा र्ण व तं त्र में नवनाथों को भिन्न भिन्न दिशाओं में 'न्यास' करने की विधि बताई गई है। उस पर से नवनाथों के नाम इस प्रकार मालूम होते हैं—गोरक्षनाथ, जालंधरनाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जड़भरत, आदिनाथ और मत्स्येंद्रनाथ। कापालिकों के बारह शिष्यों की चर्चा पहले ही की जा चुकी है उनमें से कई ऐसे हैं जिनका नाम ह ठ यो ग प्र दी पि का के सिद्धयोगियों से अभिन्न है। [२]

यो गि सं प्र दा या वि ष्कृ ति में [३] नवनारायणों के नवनाथों के रूप में अवतरित होने की कथा दी हुई है। परन्तु उसमें यह नहीं लिखा कि आविर्होत्रनारायण ने किसका अवतार धारण किया था। फिर यह भी नहीं लिखा कि गोरक्षनाथ का अवतार किस नारायण ने लिया था। स्वयं महादेव ने भी एक 'नाथ' के रूप में अवतार धारण अवश्य किया था। ग्रंथकार ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि महादेव जी ने गोरक्षनाथ नामक व्यक्ति को नवनाथों के अवतरित होने के बाद उत्पन्न किया था। तो क्या नवनाथों में गोरक्षनाथ नहीं थे? जिन नारायणों ने अवतार धारण किया था वे इस

---

१. ह ठ यो ग प्र दी पि का

२. देखिए ऊपर पृ० ४

३. यो० सं० आ० : पृ० ११-१४

प्रकार हैं : (यद्यपि ग्रंथ में यह नहीं लिखा कि आविर्होत्रनारायण ने क्या अवतार धारण किया पर भूमिका में [1] गोरक्षनाथ समेत जिन दस आचार्यों का नाम है उसमें नागनाथ का नाम भी है। संभवतः आविर्होत्रनारायण ने नागनाथ का अवतार लिया था।)

१.	कविनारायण	—	मत्स्येंद्रनाथ
२.	करभाजननारायण	—	गाहनिनाथ
३.	अन्तरिक्षनारायण	—	ज्वालेंद्रनाथ (जालंधरनाथ)
४.	प्रबुद्धनारायण	—	करणिपानाथ (कानिपा)
५.	आविर्होत्रनारायण	—	? नागनाथ
६.	पिप्पलायननारायण	—	चर्पटनाथ (चर्पटी)
७.	चमसनारायण	—	रेवानाथ
८.	हरिनारायण	—	भर्तृनाथ (भरथरी)
९.	द्रुमिलनारायण	—	गोपीचद्रनाथ

इन आठ नाथों के साथ आदिनाथ (महादेव) का नाम जोड़ लेने से संख्या नौ होगी। गोरक्षनाथ दसवें नाथ हुए। महार्णवतंत्र में जड़भरत का नाम नव नाथों में है परन्तु योगिसंप्रदायाविष्कृति उन्हें नौ नाथों से अलग मानती है। एक और नाथों की सूची है जो इससे भिन्न है परन्तु गोरक्षनाथ का नाम उसमें भी नहीं आता। यह सूची सुधाकरचंद्रिका [2] से ली गई है। इसके अनुसार नव नाथ ये हैं :

१. एकनाथ	४. उदयनाथ	७ संतोषनाथ
२. आदिनाथ	५. दण्डनाथ	८. कूर्मनाथ
३. मत्स्येंद्रनाथ	६. सत्यनाथ	९. जालंधरनाथ

नेपाल की परंपरा में एकदम भिन्न नाम गिनाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं [3] :—

१. प्रकाश	४. ज्ञान	७. स्वभा
२. विमर्श	५. सत्य	८. प्रतिभा
३. आनंद	६. पूर्ण	९ सुभग

इन सूचियों में गोरक्षनाथ का नाम न आने का कारण स्पष्ट है। गोरखपंथी लोगों का विश्वास है कि इन नौ नाथों की उत्पत्ति श्री गोरखनाथ (जिन्हें श्री नाथ भी कहते हैं) से हुई है। ये गोरख के ही नव-विध अवतार हैं। गोरखपंथियों का सिद्धान्त है कि गोरख ही भिन्न भिन्न समय में अवतार लेकर भिन्न भिन्न नाथान्तनाम से अवतरित हुए हैं और गोरख ही अनादि अनन्त पुरुष हैं। उन्हीं की इच्छा से

१. यो० सं० आ: पृ० ७
२. सु० चं०. पृ० २४१
३. नेपाल कैटलाग द्वितीय भाग: पृ० १४१

ब्रह्मा विष्णु महादेव आदि हुए हैं।[1] योगिसंप्रदायाविष्कृति में शिव के गोरक्षरूप धारण करने के विषय में यह मनोरंजक कथा दी हुई है:—यह प्रवाद परंपरा से योगियों में प्रचलित है कि महादेव को वश करने की इच्छा से प्रकृति देवी ने एक बार घोर तप किया था। इसलिये देवी का मान रखने और अपने को बचाने के हेतु से महादेवजी ने स्वयं गोरक्ष नाम से प्रसिद्ध कृत्रिम पुतले महादेव का उससे विवाह किया। कभी रहस्य खुलने पर देवी ने फिर इसको वश करने का उद्योग किया, पर विफल हुई। 'पश्चिम दिशा से आई भवानी, गोरख छलने आई जियो!'—इत्यादि आख्यान से यह वृत्त आजतक गाया जाता है।[2]

इन सभी सूचियों में सर्वसाधारण नाम इस प्रकार हैं—आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, जालंधरनाथ और गोरक्षनाथ। ये नाम तांत्रिक सिद्धों में भी परिचित हैं और तिब्बती परंपरा के सहजयानी बौद्ध सिद्धों में भी। ललितासहस्रनाम[3] में तीन प्रकार के गुरु बताए गए हैं—दिव्य, सिद्ध और मानव। तारारहस्य[4] में दो प्रकार के गुरुओं का उल्लेख है, दिव्य और मानव। प्रथम श्रेणी में चार हैं और द्वितीय श्रेणी में आठ। मानव दिव्यगुरु हैं—ऊर्ध्वकेशानंदनाथ, व्योमकेशानंदनाथ, नीलकंठानंद नाथ और वृषध्वजानन्दनाथ। मानवगुरु ये हैं—

१. वशिष्ठ
२. मीननाथ
३. हरिनाथ
४. कुलेश्वर
५. विरूपाक्ष
६. महेश्वर
७. सुख
८. पारिजात

इनमें केवल मीननाथ नाम नाथपंथियों में परिचित है। किन्तु अन्यान्य तंत्रों में मानव गुरुओं के जो नाम गिनाए गए हैं उनमें कई नाथ सिद्धों के नाम हैं। कौलावलीतंत्र[5] के अनुसार बारह मानव गुरु ये हैं:—

१. विमल
२. कुशार
३. भीमसेन
४. मीन
५. गोरक्ष
६. भोजदेव
७. मूलदेव
८. रंतिदेव
९. विघ्नेश्वर
१०. हुताशन
११. समरानंद
१२. संतोष

---

१. सु० चं० : पृ० २४१
२. यो० सं० आ० : पृ० १३
३. ल० स० ना० : पृ० १५
४. ता० र० : पृ० ११५
५. विमलः कुशारश्चैव भीमसेनः सुसाधकः।
मीनो गोरक्षकश्चैव, भोजदेव प्रकीर्तितः॥
मूलदेव रन्तिदेवो, विघ्नेश्वर हुताशनो।
समरानंदसन्तोषौ, मानवोघाः प्रकीर्तिताः॥ कौ० तं० : पृ० ७६

लगभग ये ही नाम श्या मा र ह स्य[1] में भी दिये हैं। श्या मा र ह स्य के नाम इस प्रकार हैं :—

१. विमल	६. गोरक्ष	११. विघ्नेश्वर
२. कुशार	७. भोजदेव	१२. हुताशन
३. भीमसेन	८. प्रजापति	१३. संतोष
४ सुधाकर	९. कुलदेव	१४. समयानंद
५. मीन	१०. वृत्तिदेव	

इन दोनों सूचियों में नाममात्र का भेद है। पहली सूची में सुधाकर और प्रजापति के नाम नहीं हैं। 'भीमसेन सुसाधकः' का 'सुसाधक.' शब्द मैंने विशेषण मान लिया है। ऐसा जान पड़ता है कि परवर्ती सूची में गलती से 'सुसाधक' का 'सुधाकर' हो गया है। और 'प्रकीर्तितः' का 'प्रजापतिः' हो गया है। जो हो, इनमें गोरक्षनाथ, मीननाथ, और संतोषनाथ तथा भीमनाथ नाथमतावलम्बियों के सुपरिचित हैं। इस प्रकार मीननाथ, गोरक्षनाथ आदि का अनेक परंपरा के सिद्धों में परिगणित होना उनके प्रभाव और प्राचीनत्व को सूचित करता है। एसियाटिक सोसायटी की लाइब्रेरी में एक ताल पत्र की पोथी है जिसका नंबर ४८/३४—अक्षर बंगला और लिपिकाल लक्ष्मण सं० ३८८ दिया है। ग्रन्थकार कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर हैं जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (सन् १३००-१३२१ ई०) के सभासद् थे। इस पोथी का नाम व र्ण र त्ना क र है। इस पोथी में चौरासी नाथ सिद्धों की तालिका दी हुई है। यद्यपि ग्रंथकार उनकी संख्या चौरासी बताता है तथापि वास्तविक संख्या ७६ ही है।[2] लेखक के प्रमादवश शायद आठ नाम छूट गए हैं। इन ७६ नामों में अनेक पूर्वपरिचित हैं पर नये नाम ही अधिक हैं। तिब्बती परंपरा के चौरासी सहजयानी सिद्धों से इन में के कई सिद्ध अभिन्न हैं। दोनों सूचियों को आस पास रखकर देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि नाथ पंथियों और सहजयानियों के अनेक सिद्ध उभयसाधारण हैं। नीचे दोनों सूचियां दी गई हैं। पहली व र्ण र त्ना क र के नाथ सिद्धों की है और दूसरी महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन की संगृहीत वज्रयानियों की है[3]:—

संख्या	नाथ सिद्ध	संख्या	सहजयानी सिद्ध	विशेष
१	मीननाथ	१	लूहिपा	
२	गोरक्षनाथ	२	लीलापा	

१. विमलकुशारश्चैव भीमसेनः सुधाकरः
मीनो गोरक्षकश्चैव, भोजदेवः प्रजापतिः ॥
कुलदेवो वृत्तिदेवो, विघ्नेश्वर हुताशनो ।
संतोषः समयानंदः पान्तु मां मानवाः सदा ॥ श्या० र० : पृ० २४

२. बौ० गा० दो०: भूमिका पृ० ३६

३. गं गा—पु रा त त्त्वां कः पौष माघ १९८९ पृ० २२१—२२५

सं०	नाथ सिद्ध	सं०	सहजयानी सिद्ध	विशेष
३	चौरंगीनाथ	३	विरूपा	नाथ सिद्ध (=ना० सि०)
४	चामरीनाथ	४	डोम्भीपा	
५	तंतिपा	५	शबरीपा	ना० सि० ४७ से तु०
६	हालिपा	६	सरहपा	
७	केदारिपा	७	कंकालीपा	
८	धोंगपा	८	मीनपा	ना० सि० १ से तु०
९	दारिपा	९	गोरक्षपा	ना० सि० ३
१०	विरूपा	१०	चोरंगीपा	ना० सि० ३
११	कपाली	११	वीणापा	
१२	कमारी	१२	शान्तिपा	ना० सि० ४४ से तु०
१३	कान्ह	१३	तन्तिपा	ना० सि० ५ से तु०
१४	कनखल	१४	चमरिपा	
१५	मेखल	१५	खड्गपा	
१६	उन्मन	१६	नागार्जुन	ना० सि० २२
१७	कापडालि	१७	कराहपा	ना० सि० १३ से तु०
१८	धोबी	१८	कर्णरिपा (आर्यदेव)	
१९	जालधर	१९	थगनपा	ना० सि० ४८ से तु०
२०	टोंगी	२०	नारोपा	
२१	मवह	२१	शलिपा (शीलपा, शृगाली पाद ?	ना० सि० ५५ से तु०

सं०	नाथ सिद्ध	सं०	सहजयानी सिद्ध	विशेष
२२	नागार्जुन	२२	तिलोपा	
२३	दौली	२३	छत्रपा	
२४	भिषाल	२४	भद्रपा	ना० सि० ३७ से तु०
२५	अचिति	२५	दोखंधिपा (द्विखंडिपा)	
२६	चम्पक	२६	अजोगिपा	
२७	ढेण्टस	२७	कालपा	
२८	भुम्बरी	२८	धोम्भिपा	ना० सि० १८ से तु०
२९	बाकलि	२९	कंकणपा	
३०	तुजी	३०	कमरिपा (कंबलपा)	ना० सि० ३४ से तु०
३१	चर्पटी	३१	डेंगिपा	ना० सि० ८ ?
३२	भादे	३२	भदेपा	ना० सि० ३२ से तु०
३३	चाँदन	३३	तंधेपा (तंतिपा)	
३४	कामरी	३४	कुकुरिपा	
३५	करवत	३५	कुचिपा (कुसूलिपा)	
३६	धर्मपापतंग	३६	धर्मपा	ना० सि० ३६
३७	भद्र	३७	महीपा (महिलपा)	
३८	पातलिभद्र	३८	अचिन्तिपा	ना० सि० २५ से तु०
३९	पलिहिह	३९	भलहपा (भवपा)	
४०	भानु	४०	नलिनपा	
४१	मीन	४१	भूसुकपा	

सं०	नाथ सिद्ध	सं०	सहजयानी सिद्ध	विशेष
४२	निर्दय	४२	इन्द्रभूति	
४३	सवर	४३	मेकोपा	
४४	सांति	४४	कुड़ालिपा (कुद्दलिपा)	ना० सि० ७ से तु०
४५	भर्तृहरि	४५	कमरिपा (कम्मरिपा)	ना० सि० १२ से तु०
४६	भीषण	४६	जालंधरपा (जालधारक)	ना० सि० १९ से तु०
४७	भटी	४७	राहुलपा	
४८	गगनपा	४८	धर्मरिपा (धर्मरि)	
४९	गमार	४९	धोकरिपा	
५०	मेनुरा	५०	मेदनीपा (हालीपा?)	ना० सि० ६ से तु०
५१	कुमारी	५१	पंकजपा	
५२	जीवन	५२	घंटा (वज्रघंटा) पा	
५३	अघोसाधव	५३	जोगीपा (अजोगिपा)	
५४	गिरिवर	५४	चेलुकपा	
५५	सियारी	५५	गुंडरिपा (गोरुरपा)	
५६	नागवालि	५६	लुंचकपा	
५७	विभवत्	५७	निर्गुणपा	
५८	सारंग	५८	जयानन्त	
५९	विविकिधज	५९	चर्पटीपा (पचरीपा)	ना० सि० ३१ से तु०
६०	मगरधज	६०	चम्पकपा	ना० सि० २६
६१	अचित	६१	भिखनपा	ना० सि० ४६ से तु०

सं०	नाथ सिद्ध	सं०	सहजयानी सिद्ध	विशेष
६२	विचित	६२	भलिपा	ना० सि० ६६ से तु०
६३	नेचक	६३	कुमारिपा	ना० सि० ५१ से तु०
६४	चाटल	६४	चवरि, (जवरि) अज-पालिपा	ना० सि० ४ से तु०
६५	नाचन	६५	मणिभद्रा (योगिनी)	ना० सि० ७४ से तु०
६६	भीलो	६६	मेखलापा (योगिनी)	ना० सि० १५ से तु०
६७	पाहिल	६७	कनखलापा (योगिनी)	ना० सि० १४ से तु०
६८	पासल	६८	कलकलपा	
६९	कमल-कंगारि	६९	कन्ताली (कन्थाली) पा	
७०	चिपिल	७०	धहुलि (रि)पा (दवड़ीपा ?)	
७१	गोविंद	७१	उधनि (उधलि) पा	
७२	भीम	७२	कपाल (कमल) पा	ना० सि० ६९ से तु०
७३	भैरव	७३	किलपा	
७४	भद्र	७४	सागरपा	
७५	भमरी	७५	सर्वभक्षपा	
७६	भुरुकुटी	७६	नागबोधिपा	ना० सि० ५६ से तु०
७७		७७	दारिकपा	ना० सि० ९ से तु०
७८		७८	पुतुलिपा	
७९		७९	पनहपा	
८०		८०	कोकालिपा	
८१		८१	अनंगपा	

सं०	नाथ सिद्ध	सं०	सहजयानी सिद्ध	विशेष
८२		८२	लक्ष्मींकरा	
८३		८३	समुद्‌पा	
८४		८४	भलि (व्यालि) पा	

श्री ज्ञा ने श्व र च रि त्र में पं० लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर ने ज्ञाननाथ तक की गुरुपरम्परा इस प्रकार बताई है—
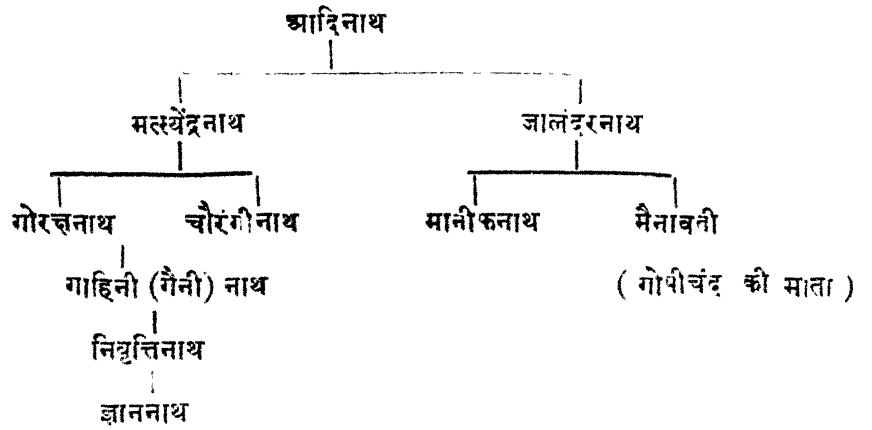
इस प्रकार यदि नवनाथों, कापालिकों, ज्ञाननाथ तक के गुरु सिद्धों और व र्ण र त्ना क र के चौरासी नाथ-सिद्धों को नाथ परंपरा में मान लिया जाय तो चौदहवीं शताब्दी के आरंभ होने के पूर्व लगभग सवा सौ सिद्धों के नाम उपलब्ध होते हैं नीचे इनकी सूची दी जा रही है। इनमें तंत्र ग्रंथों के मानव गुरुओं का उल्लेख नहीं है क्योंकि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे गुरु नाथ-सिद्ध होंगे ही। फिर नेपाली परंपरा के नाथ शिव के आनंद और शक्ति के प्रतीक से जान पड़ते हैं, व्यक्ति विशेष नहीं। आगे उन पर विचार करने का अवसर आएगा। यद्यपि नीचे की सूची में १२७ सिद्धों के नाम हैं पर उनमें से कई अभिन्न से जान पड़ते हैं। कान्ह, कन्हड़ी, करणिपा, काणफीनाथ आदि एक ही सिद्ध के नाम के उच्चारण भेद से भिन्न रूप हैं। ह ठ यो ग प्र दी पि का के ढिण्ढिणी, सहजयानी सिद्ध ढेण्ढण और व र्ण र त्ना क र के ढेण्टस एक ही सिद्ध हैं। व र्ण र त्ना क र की मेनुरा, मैना या मयनामती का ही नामान्तर जान पड़ता है। कालभैरवनाथ और भैरवनाथ एक ही हो सकते हैं और नागनाथ और नागार्जुन तथा नागबोध और नागबालि की विभिन्नता भी संदेह का विषय है। जहां संदेह ज्यादा है वहां हमने

अलग से नाम गिनाना ही उचित समझा परन्तु इन सिद्धों में सवा सौ के करीब ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य हैं और वे तेरहवीं शताब्दी (ईसवी सन् की) के समाप्त होने के पूर्व के ही हैं। स्पष्ट ही संप्रदाय के सर्वमान्य आचार्य मत्स्येंद्रनाथ, जालंधरनाथ, गोरक्षनाथ और कानिपा हैं क्योंकि इनका नाम सब ग्रंथों में पाया जाता है। आगे इन पर विचार करके ही अन्य सिद्धों पर विचार किया जायगा।

सूची में निम्नलिखित संकेत व्यवहृत हुए हैं:

वर्णरत्नाकर=व० गोरक्षसिद्धान्त संग्रह=गो०
महार्णव तंत्र=म० योगिसंप्रदायाविष्कृति=यो०
हठयोगप्रदीपिका=ह० सुधाकरचंद्रिका=सु०
ज्ञानेश्वरचरित्र=ज्ञा०

सं०	नाम	आधार ग्रंथ	सं०	नाम	आधार ग्रंथ
१	अक्षय	ह०	१४	कमलकंगारि	व०
२	अघोसाधव	व०	१५	कंथाधारी	ह०
३	अचित	व०	१६	कन्हड़ी	,,
४	अजपानाथ	यो०	१७	करवत	व०
५	अजयनाथ	,,	१८	काणेरी	ह०, गो०
६	अतिकाल	का०	१९	काण्डालि	व०
७	अनादिनाथ	का०	२०	कान्ह (करणिपा)	व० (यो०), ज्ञा०
८	अवद्य	,,	२१	कामरी	व०
९	आदिनाथ	सब	२२	कापालि	ह०
१०	उदयनाथ	सु०, गो०	२३	काल	का०
११	उनमन	व०	२४	काल भैरवनाथ	,,
१२	एकनाथ	सु०, गो०	२५	कुभारी	व०
१३	कनखल	व०	२६	कूर्मनाथ	सु०, गो०

सं०	नाम	आधार ग्रंथ	सं०	नाम	आधार ग्रंथ
२७	केदारिपा	व०	४६	ज (जा) लंधर	सब
२८	कोरंटक	ह०	४७	जीवन	व०
२९	खण्ड कापालिक	ह०	४८	ज्ञाननाथ	ज्ञा०
३०	गगनपा	व०	४९	टोंगी	व०
३१	गमार	व०	५०	ढिण्ढिणी	ह०
३२	गिरिवर	,,	५१	ढेण्टस	व०
३३	गाहिनी नाथ	ज्ञा०, यो०	५२	ततिपा	व०
३४	गोपीचन्द्रनाथ	यो०, गो०	५३	तारकनाथ	यो०
३५	गोरक्षनाथ	सब	५४	तुजी	व०
३६	गोविंद	व०	५५	दण्डनाथ	सु०, गो
३७	घोड़ा चूली	ह०	५६	दत्तात्रेय	म०
३८	चर्पट	का०,ह०,व०,गो०	५७	दारिपा	व०
३९	चाटल	व०	५८	देवदत्त	म०
४०	चम्पक	,,	५९	दौली	व०
४१	चाँदन	,,	६०	धर्मपापतंग	,,
४२	चामरी	,,	६१	धोंगपा	,,
४३	चिपिल	,,	६२	धोरंग (दूरंगम)	यो०
४४	चौरंगी	ह०, व०, ज्ञा०	६३	धोबी	व०
४५	जड़भरत	म०, का०	६४	नागनाथ	यो०

सं०	नाम	आधार ग्रंथ	सं०	नाम	आधार ग्रंथ
६५	नागवालि	व०	८४	भद्र (२)	व०
६६	नागबोध	ह०	८५	भमरी	"
६७	नागार्जुन	का०, म०, व०	८६	भर्तृहरि	व०, यो०
६८	नाचन	व०	८७	भवनार्जिः	गो०
६९	नित्यनाथ	ह०	८८	भल्लटि	ह०
७०	निरंजन	ह०, यो०	८९	भारे	व०
७१	निर्दय	व०	९०	भानु	"
७२	निवृत्तिनाथ	ज्ञा०	९१	भिषाल	"
७३	नीमनाथ	यो०	९२	भीमनाथ	का०, व०
७४	मेचक	व०	९३	भीषण	व०
७५	पलिहिह	"	९४	भीलो	वा०
७६	पातलीभद्र	"	९५	भुरुकुटी	व०
७७	पासल	"	९६	भूतनाथ	का०
७८	पूज्यपाद	ह०	९७	भूम्बरी	व०
७९	प्रभुदेव	"	९८	भैरव	का०, व०
८०	बटुक	का०	९९	मगरधन	व०
८१	बाकलि	व०	१००	मत्स्येंद्रनाथ	व० के सिवा सब
८२	भटी	व०	१०१	मन्थानभैरव	ह०
८३	भद्र (१)	"	१०२	मय	ह०

सं०	नाम	आधार ग्रंथ	सं०	नाम	आधार ग्रंथ
१०३	मवह	व०	१२१	वैराग्य	का०
१०४	मलयार्जुन	का०	१२२	शंभुनाथ	यो०
१०५	महाकाल	"	१२३	श्रीकंठ	का०
१०६	माणिकनाथ	यो०	१२४	सत्यनाथ	का०, सु०, गो०
१०७	मालीपाव	गो०	१२५	सन्तोषनाथ	सु०, गो०
१०८	मीन	ह०,व०,यो०,गो०	१२६	सवर	व०
१०९	मेखल	व०	१२७	सहस्रार्जुन	म०
११०	मेनुरा (मयनामती)	व० (ज्ञा०)	१२८	सारदानंद	ह०
१११	रेवानाथ	यो०	१२९	सान्ति	व०
११२	विकराल	का०	१३०	सारंग	व०
११३	विचित	व०	१३१	सिद्धपाद	ह०
११४	विंदुनाथ	ह०, यो०	१३२	सिद्धबोध	ह०
११५	विभवत्	व०	१३३	सियारी	व०
११६	विरूपा	व०	१३४	सुरानंद	ह०
११७	विरूपाक्ष	ह०	१३५	सूर्यनाथ	यो०
११८	विविगधज	व०	१३६	हरिश्चन्द्र	का०
११९	विलेशय	ह०, यो०	१३७	हालिपा	व०, गो०
१२०	वीरनाथ	का०			

कभी कभी परवर्ती ग्रंथों में इनके अतिरिक्त अन्य नाम भी आते हैं जो चौरासी सिद्धों में गिने गए हैं। प्राण संगली नामक सिख ग्रंथ में गुरु नानक के साथ चौरासी

सिद्धों के साथ साक्षात्कार का प्रसंग है। इन चौरासी सिद्धों में कई प्रकार के सिद्ध थे। कुछ सुरति-सिद्ध थे कुछ निरति-सिद्ध और कुछ कनक-सिद्ध। कुछ सिद्ध क्रोधी और तामसिक प्रकृति के भी थे। इस पुस्तक से निम्नलिखित संतों का पता लगता है—

१. परबत सिद्ध (पृ० १५४)
२ ईश्वरनाथ (पृ० १५५)
३. चरपटनाथ (पृ० १५५)
४' घुघूनाथ (पृ० १५६)
५. चंपानाथ (पृ० १५६)
६. खिथड़नाथ (कंथड़ि ?) (पृ० १६२)
७. झंगरनाथ (पृ० १६१)
८ धूर्मनाथ (ऊरमनाथ) (पृ० १६५)
९. धंगरनाथ (पृ० १६७)
१०. मंगलनाथ (पृ० १६९)
११. प्राणनाथ (पृ० १६९)

परवर्ती ग्रंथों में सिद्धों के नाम इतने विकृत हुए हैं कि कभी कभी भ्रम होता है कि दूसरा कोई सिद्ध है। इस प्रकार नागार्जुन नागाअरजन्द हो गए हैं, नेमिनाथ नीमनाथ बन गए हैं और कंथाधारी खिथड़ हो गए हैं। संप्रदाय प्रवर्तक सिद्धों में कुछ तो पुराने हैं। कुछ नए हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनका मूल नाम विकृत हो कर कुछ का कुछ हो गया है।

३

मत्स्येंद्रनाथ कौन थे ?

नाथ-परंपरा में आदिनाथ के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण आचार्य मत्स्येंद्रनाथ ही हैं। हमने यह पहले देखा है कि आदिनाथ शिव का ही नामान्तर है। सो, मानव गुरुओं में मत्स्येंद्रनाथ ही इस परम्परा के सर्वप्रथम आचार्य हैं। ये गोरखनाथ के गुरु थे। नेपाली अनुश्रुति के अनुसार ये अवलोकितेश्वर के अवतार थे। नाथ परंपरा के आदि गुरु माने जाते हैं और कौलाचार के ये सिद्ध पुरुष हैं। काश्मीर के शैवागमों में भी इनका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। वस्तुतः मध्ययुग के एक ऐसे युगसंधिकाल में मत्स्येंद्र का आविर्भाव हुआ था कि अनेक साधन मार्गों के ये प्रवर्तयिता मान लिए गए हैं। सारे भारतवर्ष में उनके नाम की सैंकड़ों दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। प्रायः हर दन्तकथा में वे अपने प्रसिद्ध शिष्य गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के साथ जड़ित हैं। यह कहना कठिन है कि इन दन्तकथाओं में ऐतिहासिक तथ्य कितना है परंतु नाना सूत्रों से जो कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य पाया जाता है उनसे दन्तकथाओं की यथार्थता बहुत दूर तक प्रमाणित हो जाती है। इसीलिये उनके काल, साधन-मार्ग और विचार-परंपरा के ज्ञान के लिये दन्तकथाओं पर थोड़ा बहुत निर्भर किया जा सकता है।

प्रथम प्रश्न इनके नाम का है। योगि-संप्रदाय में 'मछन्दरनाथ' नाम प्रसिद्ध है। परवर्ती संस्कृत ग्रंथों में इसका शुद्ध रूप मत्स्येंद्रनाथ दिया हुआ है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि साधारण योगी मत्स्येंद्रनाथ की अपेक्षा 'मछन्दरनाथ' नाम को ही अधिक पसंद करते हैं। श्री चन्द्रनाथ योगी जैसे सुधारक मनोवृत्ति के महात्मा को बड़े दुःख के साथ कहना पड़ा है कि मत्स्येंद्रनाथ को मच्छन्दरनाथ और गोरक्षनाथ को गोरखनाथ कहना योगि संप्रदाय के घोर पतन का सबूत है (पृ० ४४८-९)। परन्तु बहुत प्राचीन पुस्तकों में इनके इतने नाम पाये गए हैं कि इनके प्राकृत नाम की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकट होती है और यह बात सन्दिग्ध हो जाती है कि परवर्ती ग्रंथों में व्यवहृत मत्स्येंद्रनाथ नाम ही शुद्ध और वास्तविक है। मत्स्येंद्रनाथ द्वारा रचित कई पुस्तकें नेपाल की दरबार लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। उनमें एक का नाम है 'कौ ल ज्ञा न नि र्ण य'। इसकी लिपि को देखकर स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान किया था कि वह ईसवी सन् की नवीं शताब्दी का लिखा हुआ है।[1] हाल ही में कलकत्ता विश्वविद्यालय के (अब विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के) अध्यापक डा० प्रबोधचंद्र बागची ने इस पुस्तक का तथा मत्स्येंद्रनाथ की लिखी अन्य चार पुस्तकों का बहुत सुन्दर संपादित संस्करण प्रकाशित कराया है। बाकी चार पुस्तकें ये हैं—अ कु ल वी र तं त्र—ए, अ कु ल वी र तं त्र—बी, कु ला न न्द और ज्ञा न का रि का। डा० बागची के अनुसंधान से ज्ञात हुआ

---

१. ने पा ल कै ट लॉ ग: २ य भाग, पृ० XIX

है कि वस्तुतः इन ग्रंथों की हस्तलिपि ईसवी सन की ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग की है, नवीं शताब्दी की नहीं। इन पुस्तकों की पुष्पिका में आचार्य का नाम कई प्रकार से लिखा गया है। नीचे वे दिये जा रहे हैं—

कौलज्ञाननिर्णय में—मच्छघ्नपाद, मच्छेन्द्रपाद, मत्स्येंद्रपाद और मीनपाद

अकुलवीरतंत्र में — (ए) मीनपाद

" (बी) मच्छेन्द्रपाद

कुलानंद में — मत्स्येंद्र

ज्ञानकारिका में — मच्छिन्द्रनाथपाद

मच्छेन्द्र, मच्छिन्द्र और मच्छेन्द आदि नाम मत्स्येंद्रनाथ के अपभ्रंश रूप हो सकते हैं पर 'मच्छघ्न' शब्द मत्स्येंद्र का प्राकृत रूप किसी प्रकार नहीं हो सकता। इस नाम पर से हरप्रसाद शास्त्री का अनुमान है कि मत्स्येंद्रनाथ मछली मारने वाली कैवर्त जाति में उत्पन्न हुये थे। कौलज्ञाननिर्णय से भी मत्स्यघ्न नाम का समर्थन होता है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि मत्स्येंद्रनाथ थे तो ब्राह्मण परन्तु एक विशेष कारण से उनका नाम 'मत्स्यघ्न' पड़ गया। कार्तिकेय ने कुलागम शास्त्र को चुरा कर समुद्र में फेंक दिया था तब उस शास्त्र का उद्धार करने के लिये स्वयं भैरव अर्थात् शिव ने मत्स्येंद्रनाथ का अवतार धारण कर समुद्र में घुसकर उस शास्त्र का भक्षण करने वाले मत्स्य का उदर विदीर्ण करके शास्त्र का उद्धार किया। इसी कारण से वे 'मत्स्यघ्न' कहलाए।

यह ध्यान देने की बात है कि अभिनवगुप्तपाद ने भी 'मच्छन्द' नाम का ही प्रयोग किया है और रूपकात्मक अर्थ समझ कर उसकी व्याख्या की है। इनके मत से आतान-वितान वृत्त्यात्मक जाल को छिन्न करने के कारण उनका नाम 'मच्छन्द' पड़ा।[1] और तंत्रालोक के टीकाकार जयद्रथ ने भी इसी प्रकार का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'मच्छ' चपल चित्तवृत्तियों को कहते हैं। ऐसी वृत्तियों को छेदन करने के कारण ही वे 'मच्छन्द' कहलाए।[2] कबीर संप्रदाय में अब भी 'मच्छ' शब्द मन अर्थात् चपल चित्तवृत्तियों को कहते हैं।[3] यह परंपरा अभिनवगुप्त तक जाती है। उसके पहले भी ऐसी परंपरा नहीं रही होगी यह नहीं कहा जा सकता। प्राचीनतर बौद्ध सिद्धों के पदों से इस प्रकार के प्रमाण संग्रह किए जा सके हैं कि 'मत्स्य' प्रज्ञा का वाचक था। इस प्रकार मत्स्येंद्रनाथ की जीवनावस्था में ही, मच्छघ्न के प्रतीकात्मक अर्थ में उनका कहा जाना असंगत कल्पना नहीं है।

---

१. रागारुणं ग्रंथिबिलावकीर्णं यो जालमातान वितान वृत्ति।
कल्लोलितं बाह्यपथे चकार स्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः।। १७

—तंत्रालोक : प्रथम भाग पृ० २५

२. मच्छाः पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः।
छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः।

३. विचारदास की टीका : पृ० ४०

एक और प्रश्न उठता है कि मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न भिन्न। हठयोगप्रदीपिका में मीननाथ को मत्स्येंद्रनाथ से पृथक व्यक्ति बताया गया है। डा० बागची कहते हैं कि यह बात बाद की कल्पना जान पड़ती है। कौलज्ञाननिर्णय में कई जगह मीननाथ का नाम आने से उन्हें इस विषय में कोई संदेह नहीं कि मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। सांप्रदायिक अनुश्रुतियों के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ के पुत्र थे।[१] डा० बागची इस मत को परवर्ती कल्पना मानते हैं। परन्तु सिद्धों की सूची देखने से जान पड़ता है कि यह परंपरा काफी पुरानी है। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ के पिता थे।[२] इस प्रकार यह एक विचित्र उलझन है। (१) कौलज्ञाननिर्णय के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ से अभिन्न हैं (२) सांप्रदायिक अनुश्रुति में वे मत्स्येंद्रनाथ के पुत्र हैं, और (३) तिब्बती परंपरा में वह स्वयं मत्स्येंद्रनाथ के ही पिता हैं, फिर (४) नेपाल में प्रचलित विश्वास के अनुसार वे मत्स्येंद्रनाथ के छोटे भाई हैं !!

वर्णरत्नाकर में प्रदत्त नाथ सिद्धों की सूची काफी पुरानी है। इसमें प्रथम सिद्ध का नाम मीननाथ है और ४१ वें सिद्ध का नाम मीन है। प्रथम सिद्ध मीननाथ निश्चय ही मत्स्येंद्रनाथ हैं। इकतालीसवें मीन कोई दूसरे हैं जो मीननाथ की शिष्य परंपरा में पड़ने के कारण उनके पुत्र मान लिये गये होंगे। परन्तु वर्णरत्नाकर से स्पष्ट रूप से दो बातें मालूम होती हैं— (१) यह कि मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ एक ही प्रथम नाथ सिद्ध के दो नाम हैं और (२) यह कि हठयोगप्रदीपिका में मत्स्येंद्र के अतिरिक्त भी जो एक मीन नाम आता है उसका कारण यह है कि वस्तुतः ही नाथ परंपरा में एक और भी मीन नामधारी सिद्ध हो चुके हैं।

मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ के एक होने का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि तंत्रालोक की टीका में जयद्रथ ने दो पुराने श्लोक उद्धृत किए हैं इनमें शिव ने कहा है कि मीननाथ नामक महासिद्ध 'मच्छन्द' ने कामरूप नामक महापीठ में मुझ से योग पाया था।[३] निस्संदेह टीकाकार के मन में कौलज्ञाननिर्णय नामक ग्रंथ ही रहा होगा क्योंकि उन्होंने लिखा है कि यह मच्छन्द 'सकुल कुल शास्त्रों के अवतारक रूप में प्रसिद्ध हैं'।[४] यह लक्ष्य करने की बात है कि कौलज्ञान की पुष्पिका में बराबर मच्छन्द या मत्स्येंद्रनाथ को योगिनी कौलज्ञान का अवतारक बताया गया है।[५]

---

१. यो० सं० आ०: पृ० २२७ और आगे।

२. बौ० गा० दो० : पृ० ४॥ ≡ ; गंगा पुरातत्वांक : पृ० २२१

३ भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने।
कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना।

—तंत्रालोक टीकाः पृ० २४

४. स च (मच्छन्दः) सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः।—वही

५. तु०—पदावतारितं ज्ञानं कामरूपी त्वया मया

—कौ० ज्ञा० नि० : १६।२१

इस प्रकार यह निर्विवाद है कि प्राचीन काल में मत्स्येंद्रनाथ का नाम ही मीन या मीननाथ माना जाता था।

ये मत्स्येंद्रनाथ कौन थे और किस कुल तथा देश में उत्पन्न हुए थे ? इनके रचित ग्रंथ क्या क्या हैं ? इनका साधन मार्ग क्या था और कैसा था ? इत्यादि प्रश्न सहज-समाधेय नहीं हैं। सारे देश में इनके तथा इनके गुरु भाई जालंधरनाथ और शिष्य गोरक्षनाथ के संबंध में इतनी तरह की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं कि उनके आधार पर ऐतिहास को खोज निकालना काफी कठिन है। फिर भी सभी परँपराएँ कुछ बातों में मिलती हैं इसीलिये उन पर से ऐतिहासिक कंकाल का अनुमान हो सकता है।

किसी किसी पंडित ने बौद्ध सहजयानियों के आदि सिद्ध[1] लुईपाद और मत्स्येंद्रनाथ को एक ही व्यक्ति बताने का प्रयत्न किया है। लुई शब्द को लोहित (=रोहित =मत्स्य) शब्द का अपभ्रंश मान कर इस मत की स्थापना की गई है। इस कल्पना का एक और भी कारण यह है कि तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार लुईपाद का एक और नाम मत्स्यान्त्राद (= मछली की अँतड़ी खाने वाला) दिया हुआ है।[2] यह नाम मच्छघ्न नाम से मिलता है। इस प्रकार उपर्युक्त कल्पना को बल मिलता है। यदि यह कल्पना सत्य हो तो मत्स्येंद्रनाथ का समय आसानी से मालूम हो सकता है। लुईपाद के एक ग्रंथ में दीपंकर श्री ज्ञान ने सहायता दी थी। ये दीपंकर श्रीज्ञान सन् १०३८ ई० में ५८ वर्ष की उमर में विक्रमशिला से तिब्बत गए थे[2]। अतएव लुईपाद का समय इसीके आस पास होगा। परन्तु कई कारणों से लुईपाद और मत्स्येंद्रनाथ के एक व्यक्ति होने में संदेह है। हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि नेपाल के बौद्ध लोग गोरक्षनाथ पर तो बहुत नाराज हैं पर मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार मानते हैं। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ ने लिखा है कि गोरक्षनाथ पहले बौद्ध थे। उस समय उनका नाम अनंगवज्र था (यद्यपि शास्त्री जी को कोई विश्वसनीय प्रमाण मिला है कि गोरक्षनाथ का पुराना नाम अनंगवज्र नहीं बल्कि रमणवज्र था।) इसलिये नेपाली बौद्ध उन्हें धर्मत्यागी समझ कर घृणा करते हैं। परन्तु मत्स्येंद्रनाथ पर जब उनकी श्रद्धा है तो मानना पड़ेगा कि वे धर्मत्यागी नहीं हो सकते। शास्त्री जी का अनुमान है कि मत्स्येंद्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नहीं, क्योंकि मत्स्येंद्रनाथ का पूर्व नाम मच्छघ्न था अर्थात् वे मछली मारने वाले कैवर्त थे। बौद्धों के स्मृतिग्रंथों में लिखा है कि जो लोग निरन्तर प्राणि-हत्या करते हैं उनको—जैसे जाल फेंकने वाले मल्लाह, कैवर्त आदि को—बौद्धधर्म में दीक्षित नहीं करना चाहिए। इसलिये मच्छघ्ननाथ बौद्ध नहीं हो सकते। वे नाथपंथियों के ही गुरु थे फिर भी नेपाली बौद्धों

---

१. राहुल जी के मत से सहजयानियों के आदि सिद्ध सरह थे, लुई नहीं।

२. बौ० गा० दो०: पृ० १५

के उपास्य हो सके हैं।[1] शास्त्रीजी की युक्ति संपूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं मालूम होती क्योंकि बौद्ध सिद्धों में कम से कम एक मीनपा ऐसे अवश्य हैं जिनकी जाति मछुआ है।[2] परन्तु आगे हम जो विचार करने जा रहे हैं उससे इतना निश्चित है कि शास्त्री जी का यह मन्तव्य कि मत्स्येंद्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नहीं ठीक है। तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ के अनुसार गोरक्षनाथ पहले बौद्ध तान्त्रिक ही थे पर बारहवीं शताब्दी में सेन राजवंश के अंत के साथ वे शिव (ईश्वर) के उपासक हो गए क्योंकि वे मुसलमान विजेताओं का विरोध नहीं करना चाहते थे।[3]

गोरक्षशतक के दूसरे श्लोक में मीननाथ को अपना गुरु मानकर गोरक्षनाथ ने स्तुति की है। वही श्लोक गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह (पृ० ४०) में विवेकमार्तण्ड का कहकर उद्धृत है। इसमें मीननाथ की स्तुति है। प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि ये मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ ही हैं। इसमें कहा गया है कि जिन्होंने मूलाधारबंध उड्डियानबंध, जालंधरबंध आदि योगाभ्यास से हृदय कमल में निश्चय दीप की ज्योति सरीखी परमात्मा की कला का साक्षात्कार करके युग-कल्प आदि के रूप में चक्कर काटने वाले काल के रहस्यों को तथा समस्त तत्वों को योगाभ्यास से जय कर लिया था और स्वयं ज्ञान और आनंद के महासमुद्र श्री आदिनाथ का स्वरूप हो गए थे उन श्री मीननाथ को प्रणाम है[4]। उसी ग्रंथ में मीननाथ का कहा हुआ एक श्लोक है जिसमें बताया गया है कि योगी लोग जिस शिव की उपासना करते हैं उनके कोपानल से कामदेव जलकर भस्म हो गया था। इस पर से ग्रंथ संग्रहीता ने निष्कर्ष निकाला है कि योगी लोग कामभाव के विरोधी हैं और उनका मत पूर्ण ब्रह्मचर्य पर

---

१. बौ. गा. दो० : पृ० १६

२. राहुल सांकृत्यायन : गंगा, पुरातत्वांक, पृ० २११

३. (१) गेशिस्टे देस बुधिस्मु ट्रा० इन-डुंइंडिएन, ट्रा० शीफनेर० सेंट पीटर्सबर्ग सन् १८६९, पृ० १७५, २५५, ३२३.

(२) लेवी, ल ने पाल, : पृ० ३५५ और आगे

(३) ग्रियर्सन० इ. रे ए. : पृ० ३२८

४. अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारवेधादिभि —

र्यो योगीयुगकल्पकालकलनात्तत्त्वं च यो गीयते।

ज्ञानान्मोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथं स्वयं

व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्री मीननाथंभजे॥

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में यह श्लोक अशुद्ध रूप में उद्धृत है। इसका शुद्ध रूप पं० महीधर शर्मा की पुस्तक में उपलभ्य है। तदनुसार द्वितीय पंक्ति के 'यो गीयते' के स्थान में 'जेगीयते' पाठ होना चाहिए। तृतीय पंक्ति के आरंभ में 'ज्ञानामोदमहोदधिः' होना चाहिये और 'आदिनाथं' के स्थान में 'आदिनाथः' पाठ होना चाहिए (—गो० प०, पृ०, ७) इसका यही शुद्ध रूप गोरक्षशतक में भी मिलता है (ब्रिग्स, पृ० २८४)।

आधारित है[1]। स्पष्ट ही स्मरदीपिका के ग्रंथकार मीननाथ[2] यह मीननाथ नहीं हो सकते क्योंकि दोनों के प्रतिपाद्य परस्पर-विरुद्ध हैं। वस्तुतः स्मरदीपिकाकार कोई दूसरे मीननाथ हैं और नाथ मार्ग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि गोरक्षशतक के टीकाकार लक्ष्मीनारायण भी मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ को एक ही मानते हैं[3]।

नेपाल दरबार लाइब्रेरी में नित्याह्निकतिलकम् नामक पुस्तक है। इस में एक जगह पचीस कौल सिद्धों के नाम, जाति, जन्मस्थान, चर्यानाम, गुप्तनाम, कीर्तिनाम और उनकी शक्तियों के नाम दिए हुए हैं। डा० बागची ने कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका में इस सूची को उद्धृत किया है। इस सूची में एक नाम मत्स्येंद्रनाथ भी है। इसके अनुसार मत्स्येंद्रनाथ का विवरण इस प्रकार है—

नाम—विष्णुशर्मा
जाति—ब्राह्मण
जन्मभूमि—बारणा (बंग देश)
चर्यानाम—श्री गौडीशदेव
पूजानाम—श्री पिप्पलीशदेव
गुप्तनाम—श्री भैरवानन्द नाथ
कीर्तिनाम—तीन थे। ये भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न सिद्धियों को दिखाने से प्राप्त हुए थे। प्रथम कीर्तिनाम वीरानंदनाथ था, पर जब इंद्र से अनुगृहीत हुए तब इन्द्रानंददेव हुआ; फिर जब मर्कट नदी में बैठ कर समस्त मत्स्यों को कर्षित किया तो मत्स्येंद्रनाथ नाम पड़ा। यह कीर्तिनाम ही देश-विश्रुत हुआ है।

शक्ति नाम—इनकी शक्ति का नाम श्री ललिताभैरवी अम्बा पापू था। चंद्रद्वीप के बारे में तरह तरह के अटकल लगाए गए हैं। किसी के मत से वह कलकत्ते के दक्षिण में अवस्थित सुंदर वन है (क्योंकि सुन्दर वस्तुतः 'चंद्र' का ही परवर्ती रूपान्तर है) और किसी किसी के मत से नवाखाली जिले में। पागलबाबा ने मुझे बताया था कि चंद्रद्वीप कोई आसाम का पहाड़ी स्थान है जो नदी के बहाव से घिरकर

---

१. परमहंसास्तु कामंनिषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येवम्। कथम्? तदुक्तं श्री मीननाथेन—
हरकोपानलेनैव भस्मीभूतः कृतः स्मरः।
अर्द्धगौरीशरीरो हि तेन तस्मै नमोऽस्तु ते।
अतो महासिद्धा विपयरीत्या तु त्यागमेव कुर्वन्ति। —गो० सि० सं०, पृ० ६६-६७

२. नागरसर्वस्व (पद्मश्री-विरचित) बंबई १६२१ की टिप्पणी में प० तनसुखराम शर्मा ने मीननाथ नामक एक कामशास्त्रीय आचार्य की पुस्तक स्मरदीपिका से अनेक वचन उद्धृत किए हैं।

३. लेवी (लनेपाल; जि० १, पृ० ३५५) ने लिखा है कि श्री नाथ महाराज जोशी साखर (सार्थ ज्ञानेश्वरी १८-१७५४) ने मीननाथ का अनुवाद मत्स्येंद्रनाथ किया है। इस पर टीका करते हुए ब्रिग्स ने (पृ० २३०) लिखा है कि बंगाल में मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ से भिन्न माने जाते हैं। कहना व्यर्थ है कि यह बात आंशिक रूप में ही सत्य है।

द्वीप जैसा बन गया है। अब भी योगी लोग उस स्थान पर तीर्थ करने जाते हैं। चंद्रद्वीप कामरूप के आस पास ही कोई जगह होगी क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि मत्स्येंद्रनाथ ने कामरूप में साधना की थी। तंत्रालोक की टीका से भी इसी अनुमान की पुष्टि होती है। नदी के बहाव से घिरे हुए स्थान को पुराने ज़माने में द्वीप कहते थे। 'नवद्वीप' नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ-नगर इसी प्रकार के बहावों के मध्य में स्थित नौ छोटे छोटे टापुओं (द्वीपों) को मिला कर बसा था। रत्नाकरजोपमकथा नामक भोट ग्रंथ से भी चंद्रद्वीप का लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के भीतर होना पुष्ट होता है (गंगा, पुरातत्वांक पृ० २४४), परन्तु कौलज्ञाननिर्णय १६ वें पटल से जान पड़ता है कि चंद्रद्वीप कहीं समुद्र के आस-पास था। योगिसंप्रदायाविष्कृति (पृ० २२) में चंद्रगिरि नामक स्थान को गोरक्षनाथ की जन्मभूमि कहा गया है। यह स्थान गोदावरी गंगा के समीपवर्ती प्रदेश में बताया गया है।

४

मत्स्येंद्रनाथ–विषयक कथाएँ और उनका निष्कर्ष

मत्स्येंद्रनाथ-विषयक मुख्य कहानियाँ नीचे संग्रह की जा रही हैं:—

(१) कौलज्ञान निर्णय १६-२९-३६

भैरव और भैरवी चंद्रद्वीप में गए हुए थे। वहां कार्तिकेय उनके शिष्य रूप में पहुँचे। अज्ञान के प्राबल्य से उन्होंने महान् कु ला ग म शास्त्र को समुद्र में फेंक दिया। भैरवने समुद्र में जा कर मछली का पेट फाड़ कर उस शास्त्र का उद्धार किया इस कार्य से कार्तिकेय बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने एक बड़ा-सा गड्ढा खोदा और छिपकर दुबारा उस शास्त्र को समुद्र में फेंक दिया। इस बार एक प्रचण्डतर शक्तिशाली मत्स्य ने उसे खा लिया। भैरवने शक्ति-तेज से एक जाल बनाया और उस मत्स्य को पकड़ना चाहा। पर वह प्रायः उतना ही शक्ति सम्पन्न था जितना स्वयं भैरव थे। हार कर भैरव को ब्राह्मण वेश त्याग करना पड़ा। उस महामत्स्य का उदर फिर से विदीर्ण करके उन्होंने कु ला ग म शास्त्र का उद्धार किया।

(२) बंगला में मीननाथ (मत्स्येंद्रनाथ) के उद्धार के संबंध में दो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। एक है फयजुल्ला का गो र क्ष वि ज य और दूसरी श्यामादास का मी न चे त न। दोनों पुस्तकें वस्तुतः एक ही हैं। इनमें जो कहानी दी हुई है उसे श्री सुकुमार सेन के बं ग ला सा हि त्य के इ ति हा स पृ० ९३७ से संक्षिप्त रूप में संग्रह किया जा रहा है:—

आद्य और आद्या ने पहले देवताओं की सृष्टि की। बाद में चार सिद्धों की उत्पत्ति हुई। पश्चात् एक कन्या भी उत्पन्न हुई, नाम रखा गया, गौरी। आद्य के आदेश से शिव ने गौरी से विवाह किया और पृथ्वी पर चले आए। चारों सिद्धों ने, जिनके नाम मीननाथ गोरक्षनाथ, हाड़िफा (जालंधरिनाथ) और कानफा (कानूपा कृष्णपाद) थे, वायुमात्र के आहार से, योगाभ्यास आरंभ किया। गोरक्षनाथ मीन नाथ के सेवक हुए और कानपा (कानफा) हाड़िपा (हाड़िफा) के। उधर एक दिन गौरी ने शिव के गले में मुण्डमाल देखकर उसका कारण पूछा। शिव ने बताया कि वस्तुतः वे मुण्ड गौरी के ही हैं। गौरी हैरान ! क्या कारण कि वे बराबर मरती रहती हैं और शिव कभी नहीं मरते। पूछने पर शिव ने बताया कि यह गुप्त रहस्य सब के सुनने योग्य नहीं है। चलो हम लोग क्षीर सागर में 'टंग' (= डोंगी) पर बैठ कर इस ज्ञान के विषय में वार्तालाप करें। दोनों ही क्षीर सागर में पहुँचे, इधर श्री मीननाथ मछली बन कर टंग के नीचे बैठ गए। देवी को सुनते सुनते जब नींद आ गई तब भी मीन नाथ हुँकारी भरते रहे। इस आवाज से जब देवी की निद्रा टूटी, तो वे कह उठीं कि मैंने तो महाज्ञान सुना ही नहीं। शिव विचारने लगे कि यह हुँकारी किसने भरी। देखते हैं तो 'टंग' के नीचे मीननाथ हैं। उन्होंने क्रुद्ध हो कर शाप दिया कि तुम एक समय महाज्ञान भूल जाओगे।

आदिगुरु शिव कैलास पर्वत पर चले गए और वहीं रहने लगे । गौरी ने उनसे बार बार आग्रह किया कि वे सिद्धों को विवाह करके वंश चलाने का आदेश दें। शिव ने कहा कि सिद्ध लोगों में काम-विकार नहीं है। गौरी ने कहा कि भला यह भी संभव है कि मनुष्य के शरीर में काम विकार हो ही नहीं, आप आज्ञा दें तो मैं परीक्षा लूँ। शिव ने आज्ञा दे दी। चारों सिद्ध चार दिशाओं में तप कर रहे थे—पूरब में हाड़िफा, दक्षिण में कानफा, पश्चिम में गोरक्ष और उत्तर में मीननाथ। देवी को परीक्षा का अवसर देने के लिये शिव ने ध्यान बल से चारों सिद्धों का आवाहन किया। चारों उपस्थित हुए। देवी ने भुवनमोहिनी रूप धारण करके सिद्धों को अन्न परोसा। चारों ही सिद्ध उस रूप पर मुग्ध हुए। मीननाथ ने मन ही मन सोचा कि यदि ऐसी सुंदरी मिले तो आनन्द केलि से रात काटूँ। देवी ने उन्हें शाप दिया कि तुम महाज्ञान भूलकर कदली देश में सोलह सौ सुंदरियों के साथ कामकौतुक में रत होगे। हाड़िफा ने ऐसी सुन्दरी का झाड़ूदार होने में भी कृतार्थ होने की अभिलाषा प्रकट की और फलस्वरूप मयनामती रानी के घर में झाड़ूदार होने का शाप पाया। हाड़िफा के पुत्र गाभूर सिद्ध (पुस्तक में ये अचानक आते हैं) ने इस सुन्दरी को पाने के लिये हाथ पैर कटा देने पर भी जीवन को सफल माना और बदले में कामार्त सौतेली माँ से अपमान पाने का शाप मिला ।[१] कानफा ने मन ही मन सोचा कि ऐसी सुन्दरी मिले तो प्राण देकर भी कृतार्थ होऊँ और इसीलिए देवी ने उन्हें शाप दिया कि तुम तुरमान देश में डाकू (?) होओ । पर गोरक्ष ने सोचा कि ऐसी सुन्दरी मेरी माता हो तो उसकी गोद में बैठकर स्नेह पाऊं और दूध पीऊँ। गोरक्षनाथ परीक्षा में खरे उतरे और वर भी पाया, पर देवी ने उनकी कठोरतर परीक्षा लेने का संकल्प किया। शापानुसार सभी सिद्ध तत्तत् स्थानों में जाकर फल भोगने लगे । गोरक्ष-नाथ एक बार बकुल वृक्ष के नीचे बैठे समाधिस्थ हुए थे. देवी ने उन्हें नानाभाव से योगभ्रष्ट करना चाहा पर वे अन्त तक खरे उतरे। वे रास्ते में नग्न सो गईं, गोरक्ष ने विल्व पत्र से उनका शरीर ढंक दिया, मक्खी बनकर गोरक्ष के उदर में प्रविष्ट हो पीड़ा देने लगीं। गोरक्ष ने श्वास रुद्ध करके उन्हें बुरा तरह छका दिया । अन्त में देवी राक्षसी बनकर मनुष्य बलि लेने लगीं। शिव जी के द्वारा अनुरुद्ध होकर गोरक्ष ने देवी का उद्धार किया और उनके स्थान पर एक मूर्ति प्रतिष्ठित की। प्रवाद है कि कलकत्ते में काली रूप से पूजी जाने वाली मूर्ति वही मूर्ति है। देवी ने प्रसन्न होकर सुन्दर स्त्रीरत्न पाने का वर देकर गोरक्ष को अनुगृहीत किया। देवी के वर की मान-रक्षा के लिये शिवने माया से एक कन्या उत्पन्न की जिसने गोरक्षनाथ को पति रूप में वरण किया। गोरक्ष उसके घर में जाकर छः महीने के बालक बन गये और दूध पीने के लिये मचलने लगे। कन्या बड़े फेर में पड़ी। गोरक्षनाथ ने उससे कहा कि मुझ में काम विकार तो होने से रहा पर तुम हमारा कौपीन या कर-पटी धोकर उसका पानी पी जाओ, तुम्हें पुत्र होगा । आदेश के अनुसार कन्या ने करपटी धोकर जलपान कर लिया । जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम कर्पटीनाथ पड़ा।

१. सम्भवतः चौरंगीनाथ से तात्पर्य है ।

इसके बाद गोरक्षनाथ बकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए। उधर कानफा ठीक उनके सिर पर से उड़ते हुए आकाशमार्ग से कहीं जा रहे थे। छाया देखकर गोरक्षनाथ ने सिर ऊपर उठाया और क्रोधवश अपना खड़ाऊँ ऊपर फेंका। खड़ाऊँ ने कानपा को पकड़ कर नीचे किया। गोरखनाथ के सिर पर से उड़ने के अविचार का फल उन्हें हाथोंहाथ मिला। पर कानपा ने व्यंग्य करते हुए कहा कि बड़े सिद्ध बने हो, कुछ गुरु का भी पता है कि वे कहाँ हैं। कदलीदेश में महाज्ञान भूलकर स्त्रियों के साथ वे विहार कर रहे हैं। उनकी शक्ति समाप्त हो गई। यमराज के कार्यालय में देख कर आ रहा हूँ कि उनकी आयु के तीन ही दिन बाकी हैं। बड़े सिद्ध हो तो जाओ, गुरु को बचाओ। गोरखनाथ ने कहा—मुझे तो समझा रहे हो। कुछ अपने गुरु की भी खबर है तुम्हें? मेहरकुल की महाज्ञानशीला रानी मयनामती के पुत्र गोपीचंद ने उन्हें मिट्टी में गड़वा रखा है इस प्रकार अपने-अपने गुरु की बात. जानकर दोनों सिद्ध उनके उद्धार के लिये अग्रसर हुए। पहले तो गोरखनाथ ने यमराज के कार्यालय में जाकर गुरु की आयुक्षीणता को ही मिटा दिया फिर उसी मौलसिरी के नीचे लौट आए और लंग और महालंग नामक दो शिष्यों को लेकर गुरु के उद्धार के लिए कदली बन में प्रविष्ट हुए। वेश उन्होंने ब्राह्मण का बनाया। ब्राह्मण देखकर लोग उन्हें प्रणाम करने लगे, गोरखनाथ को भी आशीर्वाद देना पड़ा। पर यह आशीर्वाद पत्राधारी ब्राह्मण का तो था नहीं। सिद्ध गोरखनाथ के मुँह से निकला था। फल यह होने लगा कि सब पापी-तापी दुःख मुक्त होने लगे। गोरखनाथ ने इस वेश को ठीक नहीं समझा। उन्होंने योगी का वेश धारण किया। कदली देश के एक सरोवर के तट पर वकुल वृक्ष के नीचे समासीन हुए। उस सरोवर से एक कदली नारी आई थी। वह गोरखनाथ को देख कर मुग्ध हो गई। उसी से गोरखनाथ को पता लगा कि उनके गुरु मीननाथ सोलह सौ सेविकाओं द्वारा परिवृता मंगला और कमला नामक पटरानियों के साथ विहार कर रहे हैं। वहाँ योगी का जाना निषिद्ध है। जाने पर उनका प्राणदण्ड होगा। केवल नर्तकियां ही मीननाथ का दर्शन पा सकती हैं। गुरु के उद्धार के लिए गोरखनाथ ने नर्तकी का रूप धारण किया पर द्वारी के मुख से इस अपूर्व सुन्दरी की रूप संपत्ति की बात सुन कर रानियों ने मीननाथ के सामने उसे नहीं आने दिया। अन्त में गोरखनाथ ने द्वार से ही मर्दल की ध्वनि की। आवाज सुन कर मीननाथ ने नर्तकी को बुलाया। मर्दल ध्वनि के साथ गोरखनाथ ने गुरु को पूर्ववर्ती बातों का स्मरण कराया और महाज्ञानका उपदेश दिया। सुनकर मीननाथ को चैतन्य हुआ। रानियों ने बिंदुनाथ पुत्र को लेकर क्रंदन करके मीननाथ को विचलित करना चाहा पर गोरखनाथ ने बिंदुनाथ को मृत बनाकर और बाद में जीवित करके फिर उन्हें तत्वज्ञान दिया। कदली नारियों ने भी गोरखनाथ का प्राण लेने का षड्यंत्र किया। सो गोरखनाथ ने उन्हें शाप दिया वे चमगादड़ हो गईं। फिर गुरु और बिंदुनाथ को लेकर गोरखनाथ अपने स्थान विजय नगर में लौटे।

(३) लेवी ने ल ने पा ल जि० १ पृ० ३४७-३५५ में नेपाल में प्रचलित दो कहानियों का संग्रह किया है। ग्रियर्सन ने इ० रे० ए० में और बागची ने कौ ल ज्ञा-

न निर्णय की भूमिका में इन कहानियों का सार दिया है। यो० सं० आ० में भी यह कहानी कुछ परिवर्तित रूप में पाई जाती है। नीचे इन तीनों कहानियों का संग्रह किया जा रहा है :–

(क) नेपाल में प्रचलित बौद्धकथा

बौद्ध कथा में मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर समझा गया है। मत्स्येंद्रनाथ एक पर्वत पर रहते थे जिस पर चढ़ना कठिन था। गोरक्षनाथ उनके दर्शन के लिये गये हुए थे पर पर्वत पर चढ़ना दुष्कर समझकर उन्होंने एक चाल चली। नौ नागों को बाँधकर वे बैठ गये जिसका परिणाम यह हुआ कि नेपाल में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं हुई। राजा नरेंद्रदेव के गुरु बुद्धदत्त कारण समझ गये और अवलोकितेश्वर को ले आने का संकल्प करके कपोतक पर्वत पर गये। उनकी सेवा से प्रसन्न होकर अवलोकितेश्वर ने उन्हें एक मंत्र दिया और कहा कि इसके जप से वे आकृष्ट होकर जपकर्ता के पास आ जायेंगे। घर लौट कर बुद्धदत्त ने मंत्र जप का अनुष्ठान किया। मंत्र शक्ति से आकृष्ट होकर अवलोकितेश्वर भृंग बन कर कमण्डलु में प्रविष्ट हुए। उस समय राजा नरेंद्र देव सो रहा था। बुद्धदत्त ने लात मारकर उसे जगाया और इशारा किया कि कमण्डलु का मुख बन्द कर दे। वैसा करने पर अवलोकितेश्वर नेपाल में ही बँधे रह गये और नेपाल में प्रचुर वर्षा हुई। तभी से बुगम नामक स्थान में आज भी मत्स्येंद्रनाथ की यात्रा होती है।[1]

(ख) बुद्ध पुराण नामक ग्रंथ में ब्राह्मणों में प्रचलित कहानी है। महादेव ने एक बार पुत्राभिलाषिणी किसी स्त्री को खाने के लिये भभूत दी। अविश्वास होने के कारण उस स्त्री ने उसे गोबर में फेंक दिया। बारह वर्ष बाद जब वे उस तरफ लौटे तो उस स्त्री से बालक के बारे में पूछा। स्त्री ने कहा कि उसने उस भभूत को गोबर में फेंक दिया था। गोबर में देखा गया तो बारह वर्ष का दिव्य बालक खेलता हुआ पाया गया। महादेव ही मत्स्येंद्र थे और बालक गोरक्षनाथ। मत्स्येंद्रनाथ ने उसे शिष्य रूप में साथ रख लिया। एक बार गोरक्षनाथ नेपाल गए पर वहाँ लोगों ने उनका उचित सम्मान नहीं किया फलतः रुष्ट होकर गोरक्षनाथ बादलों को बांध कर बैठ गए और नेपाल में बारह वर्ष का घोर अकाल पड़ा। नेपाल के सौभाग्य से मत्स्येंद्रनाथ उधर से पधारे और गुरु को समागत देखकर गोरक्षनाथ को अभ्युत्थान आदि से उनका सम्मान करना पड़ा। उठते ही बादल छूट गए और प्रचुर वर्षा हुई इसीलिये मत्स्येंद्रनाथ के उस उपकार की स्मृतिरक्षा के लिये उत्सव यात्रा प्रवर्तित हुई।

(३) योगिसंप्रदायाविष्कृति में कहानी का प्रथम भाग (अध्याय ३ में) कुछ अन्तर के साथ दिया हुआ है। पुत्र लाभ की कामना करने वाली सरस्वती नामक ब्राह्मणी ने जो गोदावरी गंगा के समीपवर्ती चंद्रगिरि नामक स्थान के ब्राह्मण सुराज की पत्नी थी भभूत को फेंक नहीं दिया था बल्कि खा गई थी और उसी के गर्भ

१. और भी देखिये : डी० राइट : हिस्टरी ऑफ नेपाल : कैम्ब्रिज, १८७७ पृ० १४० और आगे।

में गोरक्षनाथ आविर्भूत हुए थे । कहानी का दूसरा भाग भी परिवर्तित रूप में पाया जाता है (अध्याय ४९) । इस ग्रंथ के अनुसार नेपाल में एक मत्स्येंद्री जाति थी जिस पर तत्कालीन राजा और राजपुरुष लोग अत्याचार कर रहे थे । यह जाति गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ की पूजा करती थी । उनकी करुण कहानी सुनकर ही गोरक्षनाथ ने नेपाल के राजा को दंड देने के लिये तीन वर्ष तक अकाल उत्पन्न कर दिया था । राजा के ग़लती स्वीकार करने और मत्स्येंद्रियों पर अत्याचार न करने का आश्वासन देने के बाद गुरु गोरक्ष ने कृपा की और प्रचुर वर्षा हुई । राजा ने मत्स्येंद्रनाथ के सम्मान में शानदार यात्रा प्रवर्तित की, पर असल में वह दिखावा भर था । अपने पुराने दुष्कृत्यों को वह दुहराता ही रहा । लाचार हो कर गुरु गोरक्षनाथ ने वसन्त नामक अपने अकिंचन शिष्य को मिट्टी के पुतले बनाने का आदेश दिया । गुरु की कृपा से ये पुतले सैनिक बन गए । इन्हीं को लेकर वसन्त ने महींद्रदेव पर चढ़ाई की । बाद में पराजित महींद्रदेव ने वसन्त को राज्य का उत्तराधिकारी स्वीकार किया और इस प्रकार सं० ४२० में गोरखा राज्य प्रतिष्ठित हुआ ।

(४) योगि सं प्र दा या वि ष्कृ ति में मत्स्येंद्रनाथ संबंधी कथाएं

नारद जी से पार्वती को यह रहस्य मालूम हुआ कि शिव जी ने गले में जो मुण्डमाल धारण किया है, वह उनके ही पूर्व जन्मों के कपाल हैं ; अमरकथा न जानने के कारण ही वे मरती रहती हैं और उसके जानने के कारण ही शिव अमर बने हुए हैं । पार्वती के अत्यन्त आग्रह पर शिव जी ने अमरकथा सुनाने के लिये समुद्र में निर्जन स्थान चुना । इधर कविनारायण मत्स्येंद्रनाथ के रूप में एक भृगुवंशीय ब्राह्मण के घर अवतरित हुए थे । पर गंडान्त योग में पैदा होने के कारण उस ब्राह्मण ने उन्हें समुद्र में फेंक दिया था । एक मछली बारह वर्ष तक उन्हें निगले रही और वे उसके पेट में ही बढ़ते रहे । पार्वती को सुनाई जाने वाली अमरकथा को मछली के पेट से इस बालक ने सुना और बाद में शिवजी द्वारा अनुगृहीत और उद्धृत होकर महासिद्ध हुआ (अध्याय २) । इस बालक ने (मत्स्येंद्र ने) अपनी अपूर्व सिद्धि के बल से हनुमान, वीरवैताल, वीरभद्र, भद्रकाली, वीरभद्र और चमुण्डा देवी को पराजित किया (अध्याय ५-१०) परन्तु दो बार ये गृहस्थी के चक्र में फंस गए । प्रथम बार तो प्रयागराज के राजा के मरने से शोकाकुल जनसमूह को देखकर गोरक्षनाथ ने ही उनसे राजा के मृत शरीर में प्रवेश करके लोगों को सुखी करने का अनुरोध किया और मत्स्येंद्रनाथ ने अपने मृत शरीर की बारह वर्ष तक रक्षा करने की अवधि दे कर राजा के शरीर में प्रवेश किया । बारह वर्ष तक वे सानंद गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे । किसी प्रकार रानियों को रहस्य मालूम हो गया और उन्होंने मत्स्येंद्रनाथ के मृत शरीर को नष्ट कर देना चाहा । पर वीरभद्र उस शरीर को ले गए और वह नष्ट होने से बच गया । अपने पुराने बैर के कारण वीरभद्र उस शरीर को लौटाना नहीं चाहते थे, परन्तु गोरक्षनाथ की अद्भुत शक्ति के सामने उन्हें झुकना पड़ा और मत्स्येंद्रनाथ को फिर अपना शरीर प्राप्त हुआ । इसी समय मत्स्येंद्रनाथ के माणिकनाथ नामक पुत्र उत्पन्न हुए

जो बाद में चल कर बहुत बड़े सिद्ध योगी हुए। एक दूसरी बार त्रियादेश (अर्थात् सिंहल देश) की रानी ने अपने रुग्ण-क्षीण पति से असन्तुष्ट हो कर अन्य योग्य पुरुष की कामना करती हुई हनुमान जी की कृपा प्राप्त की। हनुमान जी ने स्वयं गृहस्थी के बंधन में बंधना अस्वीकार किया, पर मत्स्येंद्रनाथ को ले आ दिया। रानियों ने राज्य में योगियों का आना निषेध कर दिया था। गोरक्षनाथ गुरु का उद्धार करने आए तो हनुमान जी ने बाधा दी। व्यर्थ का झगड़ा मोल न ले कर गोरक्षनाथ ने बालक-वेश बना राज्य में प्रवेश किया। उसी समय कलिंगा नामक अपूर्व नृत्य-चतुरा वेश्या मत्स्येंद्रनाथ के अन्तःपुर में नाचने जा रही थी। गोरक्षनाथ ने साथ चलना चाहा और स्त्री-वेश बनाने और तबला बजाने में अपनी निपुणता का परिचय देकर उसे साथ ले चलने को राजी किया। रात को अन्तःपुर में कलिंगा का मनोहर नृत्य हुआ और मत्स्येंद्रनाथ मुग्ध हो रहे। गोरक्षनाथ ने मंत्र-बल से तबलची के पेट में पीड़ा उत्पन्न कर दी और इस प्रकार कलिंगा ने निरुपाय होकर उनसे तबला बजाने का अनुरोध किया। अवसर देख कर गोरक्षनाथ ने तबले पर 'जागो गोरखनाथ आ गया' की ध्वनि की और गुरु को चैतन्य-लाभ कराया। रानी ने बहुत प्रकार से गोरक्षनाथ को वश करना चाहा और मत्स्येंद्रनाथ भी यह सुख छोड़कर अन्यत्र जाने में बहुत पशोपेश करते रहे पर अन्त तक गोरक्षनाथ उन्हें क्षणभंगुर विषय-सुख से विरक्त करने में सफल हुए। इसी समय मत्स्येंद्रनाथ के दो पुत्र हुए थे—परशुराम और मीनराम, जो आगे चलकर बड़े सिद्ध हुए (अध्याय २३) यह कथा सुधाकर चंद्रिका (पृ० २४०) में संक्षिप्त रूप में दी हुई है। इसके अनुसार गोरखनाथ ने तबले से यह ध्वनि निकाली थी—'जाग मछन्दर गोरख आया।'

(५) नाथ चरित्र की कथा

पं० विश्वेश्वर नाथ जी रेउ ने सरदार म्यूज़ियम, जोधपुर से सन् १९३७ ई० में नाथ चरित्र, नाथ पुराण और मेघमाला नामक पुस्तकों से और उनके आधार पर बने हुए चित्रों से नाथ-परंपरा की कुछ कथाएं संगृहीत की हैं। नाथ-चरित्र नामक ग्रन्थ आज से लगभग सौ-सवासौ वर्ष पहले महाराजा मान सिंह जी के समय में संग्रह किया गया था, जो किसी कारण-वश पूरा नहीं हो सका। इस पुस्तक पर महाराजा मानसिंह की एक संस्कृत टीका भी प्राप्त हुई है। प्रथम दो पुस्तकें मारवाड़ी भाषा में हैं और अन्तिम (मेघमाला) संस्कृत में। इस ग्रंथ से मत्स्येंद्रनाथ संबंधी दो कथाएँ उद्धृत की जा रही हैं।

(१) एक बार मत्स्येन्द्रनाथ संसार-पर्यटन को निकले। मार्ग में जिस समय वह एक नगर में पहुँचे, उस समय वहां के राजा का स्वर्गवास हो गया और उसके नौकर उसके शरीर को वैकुण्ठी में रखकर जलाने को ले चले। इस पर मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शरीर की रक्षा का भार अपने साथ के शिष्यों को सौंप कर 'परकाय-प्रवेश' विद्या के बल से उस राजा के शरीर में प्रवेश किया। इससे वह राजा जी उठा और उसके साथ वाले सब हर्ष मनाने लगे। इस प्रकार राज-शरीर में रहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने बहुत समय तक भोग-विलास का आनन्द लिया। इसी बीच एक पर्व के अवसर

पर हरद्वार में योगी लोग इकट्ठे हुए। वहाँ पर मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरक्षनाथ और कनीपाव के बीच विवाद हो गया और कनीपाव ने गोरक्ष को उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के भोग विलास में फँसे रहने का ताना दिया। यह सुन गोरक्ष राजा के शरीर में स्थित मत्स्येन्द्रनाथ के पास गए और उन्हें समझा कर वहाँ से चलने को तैयार किया। यह हाल जान रानी परिमला, जो विमलादेवी का अवतार थी, बहुत चिन्तित हुई। इसपर मत्स्येन्द्र ने रानी से फिर मिलने की प्रतिज्ञा की। अन्त में मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के जाने पर रानी ने अग्नि-प्रवेश कर वह शरीर त्याग दिया और कुछ काल बाद एक राजा के यहाँ जयन्ती नामक कन्या के रूप में जन्म लिया। उसके बड़े होने पर पूर्व प्रतिज्ञानुसार मत्स्येन्द्र वहाँ पहुँचे और उससे विवाह कर कदलीवन में उसके साथ विहार करने लगे। देवताओं और सिद्धों ने वहाँ जाकर उनकी स्तुति की और नाथ जी ने पहुँच कर मत्स्येन्द्र और जयन्ती को आशीर्वाद दिया।

(२) एक बार मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप देश में जाकर तप करने लगे। परन्तु जब वहाँ का राजा मर गया, तब इन्होंने मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर उसकी मंगला नामक रानी के साथ विहार किया। इसी प्रकार इन्होंने उस राजा की अन्य रानियों के साथ भी आनन्दोपभोग किया। इससे उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ काल बाद मंगला आदि रानियों ने मत्स्येन्द्र को पहचान लिया अन्त में गोरक्षनाथ वहाँ आ पहुँचे और अपने गुरु मत्स्येन्द्र और उनके दोनों पुत्रों को लेकर वहाँ से चल दिए। परन्तु बहुत काल तक भोगासक्त रहने के कारण मत्स्येन्द्र का मन अभी तक सुवर्ण और रत्नादि में फंसा हुआ था। यह देख गोरक्ष ने मार्ग के एक पर्वत-शिखर को अपनी सुराही के जल का छींटा देकर सुवर्ण का बना दिया। अपने शिष्य की इस सिद्धि को देख मत्स्येन्द्र ने अपने गले के आभूषण वग़ैरह तोड़ कर फेंक दिए। इसके बाद गोरक्षनाथ ने सुवर्ण को कलह का मूल समझा, सुराही के जल से सुवर्ण-शिखर को स्फटिक का बना दिया। परन्तु इससे भी उसको सन्तोष न हुआ। इसलिये उसने तीसरी बार सुराही का जल लेकर, उसे गेरू (गैरिक) का बना दिया।

आगे पहुँचने पर मत्स्येन्द्र ने अपने दोनों पुत्रों को पास के एक नगर में भिक्षा माँग लाने के लिये भेजा। उनमें से एक तो पवित्र भिक्षा न मिलने से खाली हाथ लौट आया, और दूसरा एक चमार के दिए उत्तम भोज्य पदार्थों को ले आया। यह देख मत्स्येन्द्र ने पहले पुत्र को पार्श्वनाथ होने का वर दिया और दूसरे को श्वेताम्बरी जैन होने का शाप दिया। इसके बाद वे सब कदलीवन को गए, और वहाँ पर मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के बीच अनेक विषयों पर वार्तालाप होता रहा।

६. निष्कर्ष

गोरक्षनाथ और मत्स्येंद्रनाथ विषयक समस्त कहानियों के अनुशीलन से कई बातें स्पष्ट रूप से जानी जा सकती हैं। प्रथम यह कि मत्स्येंद्रनाथ और जालंधरनाथ समसामयिक थे दूसरी यह कि मत्स्येंद्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु

थे और जालंधरनाथ कानुपा या कृष्णपाद के गुरु थे। तीसरी यह कि मत्स्येंद्रनाथ कभी योग मार्ग के प्रवर्तक थे फिर संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गए थे जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग मुख्य बात थी—संभवतः यह वामाचारी साधना थी। चौथी यह कि शुरू से ही जालंधरनाथ और कानिपा की साधना-पद्धति मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधना-पद्धति से भिन्न थी। यह स्पष्ट है कि किसी एक का समय भी मालूम हो जाय तो बाकी कई सिद्धों के समय का पाता आसानी से लग जायगा। समय मालूम करने के लिये कई युक्तियाँ दी जा सकती हैं। एक एक कर के हम उन पर विचार करें।

(१) सबसे प्रथम तो मत्स्येंद्रनाथ द्वारा लिखित कौ ल ज्ञा न नि र्ण य ग्रंथ का लिपि-काल निश्चित रूप से सिद्ध कर देता है कि मत्स्येंद्रनाथ ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं।

(२) हमने ऊपर देखा है कि सुप्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने तं त्रा लो क में मच्छंद विभु को नमस्कार किया है। ये 'मच्छन्द विभु' मत्स्येंद्रनाथ ही हैं, यह भी निश्चित है। अभिनवगुप्त का समय निश्चित रूप से ज्ञात है। उन्होंने ई श्व र प्र त्य भि ज्ञा की बृ ह ती वृ त्ति सन् १०१५ ई० में लिखी थी और क्र म स्तो त्र की रचना सन् ९९१ ई० में की थी। इस प्रकार अभिनवगुप्त सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के अन्त में और ग्यारहवीं शताब्दी के आदि में वर्तमान थे।[1] मत्स्येंद्रनाथ इससे पूर्व ही आविर्भूत हुए होंगे।

(३) पंडित राहुल सांकृत्यायन ने गं गा के पु रा त त्त्वां क में ८४ वज्रयानी सिद्धों की सूची प्रकाशित कराई है। इसके देखने से मालूम होता है कि मीनपा नामक सिद्ध जिन्हें तिब्बती परंपरा में मत्स्येंद्रनाथ का पिता कहा गया है, पर जो वस्तुतः मत्स्येंद्रनाथ से अभिन्न हैं, राजा देवपाल के राज्य-काल में हुए थे। राजा देवपाल ८०९-४९ ई० तक राज्य करते रहे (च तु रा शी ति सि द्ध प्र वृत्ति, त न् जू र ८६। १। कॉर्डियर पृ० २४७) इससे यह सिद्ध होता है कि मत्स्येंद्रनाथ नवीं शताब्दी के मध्य भाग में और अधिक से अधिक अन्त्य भाग तक वर्तमान थे।

(४) गोविन्दचंद्र या गोपीचंद्र का संबंध जालंधरपाद से बताया जाता है। वे कानफा के शिष्य होने से जालंधरपाद की तीसरी पुश्त में पड़ते हैं। इधर तिरूमलय की शैललिपि से यह तथ्य उद्धार किया जा सका है कि दक्षिण के राजा राजेंद्रचोल ने माणिकचंद्र के पुत्र गोविन्दचंद्र को पराजित किया था। बंगला में गो वि न्द च न्द्रे र गा न नाम से जो पोथी उपलब्ध हुई है उसके अनुसार भी गोविन्दचंद्र का किसी दाक्षिणात्य राजा का युद्ध वर्णित है। राजेन्द्र चोल का समय १०६३ ई०—१११२ ई० है।[2] इस से अनुमान किया जा सकता है कि गोविन्दचंद्र ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वर्तमान थे। यदि जालंधरपाद उनसे सौ वर्ष पूर्ववर्ती हों तो

---

१. एस. के. दे; संस्कृत पोएटिक्स: जिल्द १, पृ० १०५

२. दीनेशचंद्र सेन : बंगभाषा ओ साहित्य।

भी उनका समय दसवीं शताब्दी के मध्य भाग में निश्चित होता है। मत्स्येंद्रनाथ का समय और भी पहले निश्चित हो चुका है। जालंधरपाद उनके समसामयिक थे इस प्रकार उनकी कष्ट-कल्पना के बाद भी इस बात से पूर्ववर्ती प्रमाणों की अच्छी संगति नहीं बैठती।

(५) वज्रयानी सिद्ध कण्हपा ने स्वयं अपने गानों में जालंधरपाद का नाम लिया है। तिब्बती परंपरा के अनुसार ये भी राजा देवपाल (८०९--८४९ ई०) के समकालीन थे।[1] इस प्रकार जालंधरपाद का समय इनसे कुछ पूर्व ही ठहरता है।

(६) कन्थड़ी नामक एक सिद्ध के साथ गोरक्षनाथ का संबंध बताया जाता है। प्र बं ध चि न्ता म णि में एक कथा आती है कि चौलुक्य राजा मूलराज ने एक मूलेश्वर नाम का शिवमंदिर बनवाया था। सोमनाथ ने राजा के नित्य नियत वंदन-पूजन से सन्तुष्ट होकर अणहिल्लपुर में अवतीर्ण होने की इच्छा प्रकट की। फल-स्वरूप राजाने वहाँ त्रिपुरुषप्रासाद नामक मंदिर बनवाया। उसका प्रबंधक होने के लिये राजा ने कथड़ी नामक शैवसिद्ध से प्रार्थना की। जिस समय राजा उस सिद्ध से मिलने गया उस समय सिद्ध को बुखार था, पर अपने बुखार को उसने कंथा में संक्रमित कर दिया। कंथा कांपने लगी। राजा ने कारण पूछा तो उसने बताया कि उसी ने कंथा में ज्वर संक्रमित कर दिया है। बड़े छल-बल से उस निस्पृह तपस्वी को राजा ने मंदिर का प्रबंधक बनवाया।[2] कहानी के सिद्ध के सभी लक्षण नाथपंथी योगी के हैं। इस लिये यह कंथड़ी निश्चय ही गोरखनाथ के शिष्य ही होंगे। प्र बं ध चि न्ता म णि की सभी प्रतियों में लिखा है कि मूलराज ने संवत् ९९३ की आषाढ़ी पूर्णिमा को राज्य-भार ग्रहण किया था। केवल एक प्रति में ९९८ संवत् है[3]। इस हिसाब से जो काल अनुमान किया जा सकता है, वह पूर्ववर्ती प्रमाणों से निर्धारित तिथि के अनुकूल ही है। ये ही गोरक्षनाथ और मत्स्येंद्रनाथ का काल निर्णय करने के ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक आधार हैं। परन्तु प्रायः दन्तकथाओं और साम्प्रदायिक परंपराओं के आधार पर भी काल-निर्णय का प्रयत्न किया जाता है। इन दन्तकथाओं से सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों का काल बहुत समय जाना हुआ रहता है। बहुत से ऐतिहासिक व्यक्ति गोरक्षनाथ के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। उनके समय की सहायता से भी गोरक्षनाथ के समय का अनुमान किया जा सकता है। ब्रिग्स ने इन दन्तकथाओं पर आधारित काल को चार मोटे विभागों में इस प्रकार बांट लिया है:—

(१) कबीर, नानक आदि के साथ गोरक्षनाथ का संवाद हुआ था, इस पर दन्तकथाएँ भी हैं और पुस्तकें भी लिखी गई हैं। यदि इन पर से गोरक्षनाथ का काल-निर्णय किया जाय, जैसा की बहुत से पंडितों ने किया भी है, तो चौदहवीं शताब्दी के ईषत् पूर्व या मध्य में होगा।(२) गूगा की कहानी, पश्चिमी नाथों की अनु-

---

१. गंगापुरातत्वांक : पृ० २२४

२. प्र. चि. पृ० २२-२३

३. वही. पृ० २०

श्रुतियाँ, बंगाल की शैवपरम्परा और धर्मपूजा का संप्रदाय दक्षिण के पुरातत्त्व के प्रमाण, ज्ञानेश्वर की परंपरा आदि को प्रमाण माना जाय तो यह काल १२०० ई० के इधर ही जाता है। तेरहवीं शताब्दी में गोरखपुर का मठ ढहा दिया गया था, इसका ऐतिहासिक सबूत है। इसलिये निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ १२०० ई० के पहले हुए थे। इस काल के कम से कम एक सौ वर्ष पहले तो यह काल होना ही चाहिए (३) नेपाल के शैव-बौद्ध परंपरा के नरेंद्रदेव, उदयपुर के बाप्पा रावल, उत्तर-पश्चिम के रसालू और होदो, नेपाल के पूर्व में शंकराचार्य से भेंट आदि पर आधारित काल ८ वीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल का निर्देश करते हैं। (४) कुछ परंपराएँ इससे भी पूर्ववर्ती तिथि की ओर संकेत करती हैं। ब्रिग्स दूसरे नंबर के प्रमाणों पर आधारित काल को उचित काल समझते हैं, पर साथ ही यह स्वीकार करते हैं कि यह अन्तिम निर्णय नहीं है। जब तक और कोई प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक वे गोरक्षनाथ के विषय में इतना ही कह सकते हैं कि गोरक्षनाथ १२०० ई० से पूर्व, संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में, पूर्वी बंगाल में प्रादुर्भूत हुए थे[१]। परन्तु सब मिलाकर वे निश्चित रूप से जोर देकर कुछ नहीं कहते और जो काल बताते हैं उसे क्यों अन्य प्रमाणों से अधिक युक्तिसंगत माना जाय, यह भी नहीं बताते। हम आगे 'संप्रदाय भेद'-नामक अध्याय में तिथि की इस बहुरूपता के कारण का अनुसंधान करेंगे।

हमें ऊपर के प्रमाणों के आधार पर नाथमार्ग के आदि प्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्य-भाग ही उचित जान पड़ता है। इस मार्ग में इस के पूर्ववर्ती सिद्ध भी बाद में चल कर अन्तर्भुक्त हुए हैं और इसलिये गोरक्षनाथ के संबंध में ऐसी दर्जनों दन्तकथाएं चल पड़ी हैं, जिनको ऐतिहासिक तथ्य मान लेने पर तिथि-संबंधी झमेला खड़ा हो जाता है। आगे हम इसकी युक्ति-संगत संगति बैठा सकेंगे।

मत्स्येंद्रनाथ जी जिस कदली देश या स्त्रीदेश में नये आचार में जा फंसे थे; वह कहाँ है? मीनचेतन और गोरक्षविजय में उसका नाम कदली देश बताया गया है और योगिसंप्रदायाविष्कृति में 'त्रियादेश' अर्थात् सिंहल द्वीप कहा गया है। सिंहल देश ग्रंथकार की व्याख्या है। भारतवर्ष में स्त्रीदेश नामक एक स्त्रीप्रधान देश की ख्याति बहुत पुराने ज़माने से है। नाना स्थानों के रूप में इसे पहचानने की कोशिश की गई है। हिमालय के पार्वत्य अञ्चल में ब्रह्मपुर के उत्तरी प्रदेश को जो वर्तमान गढ़वाल और कमायूं के अन्तर्गत पड़ता है, पुराना स्त्रीराज्य बताया गया है। सातवीं शताब्दी में इसे 'सुवर्ण गोत्र' कहते थे (विक्रमांकचरित १८-५७; गरुड़पुराण ५५ अ०)। कहते हैं इस देश की रानी प्रमीला ने अर्जुन के साथ युद्ध किया था[२] (जैमिनि भारत अ० २२)। कभी कभी कुलूत देश (कुल्लू) को भी स्त्री देश कहा गया है। ह्वेन्तसंग ने सतलज के उद्गम-स्थान के पास किसी स्त्री-राज्य का संधान पाया था। आटकिन्सन के हिमालय न डिस्ट्रिक्ट्स, से भी यह तथ्य प्रमा-

१ ब्रिग्स, पृ० २४३-४

२. नंदलाल देः जिओग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० १६४

णित हुआ है। किसी किसी पंडित ने कामरूप को ही स्त्रीदेश कहा है। शेरिंग ने वेस्टर्न टिबेट नामक पुस्तक में (पृ० ३३८) तिब्बत के पूर्वी छोर पर बसे किसी स्त्रीराज्य का जिक्र किया है, जहाँ की जनता बराबर किसी स्त्री को ही अपनी शासिका चुनती है।[१] यह लक्ष्य करने की बात है कि गोरक्षविजय में स्त्रीदेश न कह कर कदली देश कहा गया है। महाभारत में कदली-वन की चर्चा है (वन पर्व १४६ अ०)। कहते हैं कि इस कदली देश में अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य, और परशुराम ये सात चिरजीवी सदा निवास करते हैं। हनुमान् जी ने भीमसेन जीसे कहा था कि इस के बाद दुरारोह पर्वत है जहाँ सिद्ध लोग ही जा सकते हैं। मनुष्य की गति वहाँ नहीं है (वनपर्व १४६,९२-९३)। प० सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि देहरादून से लेकर हृषीकेश बदरिकाश्रम और उसके उत्तर के हिमालय प्रान्त सब कजरीवन (कदली वन) कहे जाते हैं।[२] पद्मावत में लिखा है कि गोपीचंद जोगी हो कर कजरीवन (कदली वन) में चले गये थे।[३] इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि यह हिमालय के पाददेश में अवस्थित कमायूँ गढ़वाल के अन्दर पड़ने वाला प्रदेश है। योगिसम्प्रदायाविष्कृति में जिस परम्परा का उल्लेख है उसमें भी हनुमान नाम आता है। हनुमान जी कदलीवन में ही रहते हैं, इसलिये इसी कदलीवन को वहाँ गलती से सिंहलद्वीप समझ लिया गया है। परन्तु त्रियादेश कह कर संदेह का अवकाश नहीं रहने दिया गया है एक और विचार यह है कि स्त्रीदेश कामरूप ही है। कामसूत्र की जयमंगला टीका में लिखा है कि वज्रावतंस देश के पश्चिम में स्त्री राज्य है। पं० तनसुखराम ने नागरसर्वस्व नामक बौद्ध कामशास्त्रीय ग्रंथ की टिप्पणी में लिखा है कि यह स्थान भूनस्थान अर्थात् भोटान के पास कहीं है।[४] इस पर से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि कदलीदेश आसाम के उत्तरी इलाके में है। तंत्रालोक की टीका और कौलज्ञाननिर्णय से यह स्पष्ट है कि मत्स्येंद्रनाथ ने कामरूप में ही कौल साधना की थी। इसलिये कदलीवन या स्त्रीदेश से वस्तुतः कामरूप ही उद्दिष्ट है। कुलूत, सुवर्ण गोत्र, भूनस्थान, कामरूप में भिन्न भिन्न ग्रंथकारों के स्त्रीराज्य का पता बताना यह साबित करता है कि किसी समय हिमालय के पार्वत्य अंचल में पश्चिम से पूर्व तक एक विशाल प्रदेश ऐसा था जहाँ स्त्रियों की प्रधानता थी। अब भी यह बात उत्तर भारत की तुलना में, बहुत दूर तक ठीक है।

इन सारे वक्तव्यों का निष्कर्ष यह है कि मत्स्येंद्रनाथ चंद्रगिरि नामक स्थान में पैदा हुए थे जो कामरूप से बहुत दूर नहीं था और या तो बंगाल के समुद्री किनारे पर कहीं

---

१. जिओग्राफिकल डिक्शनरी पृ० १९४.

२. सु. च., पृ० २५२-३

३. जउ भल होत राज अउ भोगू। गोपीचंद नहिं साधत जोगू॥
उहउ सिसिटि जउ देख परेवा। तजा राज कजरी बन सेवा॥

—जोगी खंड पृ० २४६

४. नागरसर्वस्व, पृ० १७

था, या जैसा कि तिब्बती परम्परा से स्पष्ट है, ब्रह्मपुत्र से घिरे हुए किसी द्वीपाकार भूमि पर अवस्थित था। इतना निश्चित है कि वह स्थान पूर्वी भारतवर्ष में कामरूप के पास कहीं था। इनका प्रादुर्भाव नवीं शताब्दी में किसी समय हुआ था। शुरू शुरू में वह एक प्रकार की साधना का व्रत ले चुके थे, परन्तु बाद में किसी ऐसे आचार में जा फँसे थे जिसमें स्त्रियों का साहचर्य प्रधान था और यह आचार ब्रह्मचर्यमय जीवन का परिपंथी था। वे जिस स्थान में इस प्रकार के नये आचार में बने हुए थे वह स्थान स्त्रीदेश या कदलीदेश था जो कामरूप ही हो सकता है। इस मायाजाल से उनका उद्धार उन्हीं के प्रधान शिष्य गोरक्षनाथ ने किया और एक बार वे फिर अपने पुराने मार्ग पर आ गए। अब विचारणीय यह है कि मत्स्येंद्रनाथ का मत क्या था और क्या उस मत की जानकारी से हमें ऊपर की दन्तकथाओं के समझने में मदद मिलती है? आगे के अध्याय में हम इसी बात को समझने का प्रयत्न करेंगे।

५

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौलज्ञान

(१) कौलज्ञाननिर्णय

कौ ल ज्ञा न नि र्ण य के अनुसार मत्स्येंद्रनाथ कौल मार्ग के प्रथम प्रवर्तक हैं। तं त्रा लो क की टीका (पृ० २४) में उन्हें सकल-कुल-शास्त्र का अवतारक कहा गया है। परन्तु कौ ल ज्ञा न नि र्ण य में ही ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे मालूम होता है कि यह कौलज्ञान एक कान से दूसरे कान तक चलता हुआ दीर्घकाल से (६-९) और परम्परा-क्रम से चला आ रहा था (१४-९)। ग्रंथ में कई कौल-संप्रदायों की चर्चा भी है। चौदहवें पटल में रोमकूपादि कौल (१४-३२) वृषणोत्थ कौलिक (१४-३३), वह्निकौल (१४-३४, कौल सद्भाव (१४ ३७) और पदोत्तिष्ठ कौल शब्द आए हैं। विद्वानों ने इनका संप्रदायपरक तात्पर्य बताया है।[1] परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि ये शब्द संप्रदायपरक न हो कर 'सिद्धिपरक हैं। यद्यपि चौदहवाँ पटल 'देव्युवाच' से शुरू होता है, पर सारा पटल देवी की उक्ति के रूप में नहीं है, बल्कि भैरव के उत्तर के रूप में है, क्योंकि इसमें देवी को संबोधन किया गया है। उत्तर देने के ढंग से लगता है कि भैरव (=शिव) ऐसे ध्यान की विधि बता रहे हैं, जिसमें मंत्र, प्राणायाम और चक्रध्यान की जरूरत नहीं होती और फिर भी वह परम सिद्धिदायक होता है।[2] इस पटल की पुष्पिका से भी पता चलता है कि यह ध्यान-योग मुद्रा का प्रकरण है। इसीलिये मुझे ये शब्द सिद्धिपरक जान पड़ते हैं। ये संप्रदायवाचक नहीं हैं। परन्तु सोलहवें पटल में लिखा है :—

> भक्तियुक्ताः समत्वेन सर्वे शृण्वन्तु कौलिकम् ॥ ४६ ॥
> महाकौलात् सिद्धकौलं सिद्धकौलात् मसादरम् (?)
> चतुर्युगविभागेन अवतारं चोदितं मया ॥ ४७ ॥
> ज्ञानादौ निर्णितिः कौलं द्वितीये महत्संज्ञकम्।
> तृतीये सिद्धामृतं नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये ॥ ४८ ॥
> ये चास्मिन्निर्गता देवि वर्णयिष्यामि ते ऽखिलम्।
> एतस्माद् योगिनीकौलात् नाम्ना ज्ञानस्य निर्णितौ ॥ ४९ ॥

इन श्लोकों से जान पड़ता है कि आदि युग में जो कौलज्ञान था वह द्वितीय अर्थात् त्रेता युग में 'महत्कौल' नाम से परिचित हुआ, तृतीय अर्थात् द्वापर में 'सिद्धामृत' नाम से और इस कलिकाल में 'मत्स्योदर कौल' नाम से प्रकट हुआ है। प्रसंग से ऐसा लगता

---

१. बागची : कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका पृ० ३३-३५; शुद्धिपत्र में रोमकूपादि कौलिक को छोड़ देने को कहा गया है।

२. उपाध्याय : भा र ती य द र्श न, पृ० ४३८

है कि ४७ वें श्लोक में पंचमी विभक्ति का प्रयोग 'अनन्तर' अर्थ में हुआ है। इस श्लोक का 'मत्सादरम्' पद शायद 'मत्स्योदरम्' का ग़लत रूप है और ४६ वें श्लोक के शृण्वन्तु क्रिया का कर्म है। संक्षेप में इन श्लोकों का अर्थ यह हुआ कि भक्तियुक्त होकर सब लोग उस तत्त्व को समानभाव से सुनें (जिसे भैरव ने अब तक सिर्फ पार्वती और षडानन आदि को ही सुनाया है)—महाकौल के बाद सिद्धकौल और सिद्धकौल के बाद मत्स्योदर का अवतार हुआ। इस प्रकार चार युगों में शिव ने चार अवतार धारण किए। प्रथम युग में उनके द्वारा निर्णीत ज्ञान का नाम था 'कौलज्ञान', द्वितीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धकौल', तृतीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धामृत' और चतुर्थ-युग में अवतारित ज्ञान का नाम 'मत्स्योदर' है। इनसे (=मत्स्योदर) विनिर्गत ज्ञान का नाम योगिनीकौल है।

इसी प्रकार इक्कीसवें पटल में अनेक कौल मार्गों का उल्लेख है। इन श्लोकों पर से डा० बागची अनुमान करते हैं कि मत्स्येंद्रनाथ सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुवर्ती थे और उन्होंने योगिनीकौल मार्ग का प्रवर्तन किया था। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि नाथपंथी लोग अपने को सिद्धमार्ग का अनुयायी कहते हैं और परवर्ती साहित्य में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग नाथपंथी साधुओं के लिये हुआ है। यह स्पष्ट है कि द्वापर युग का सिद्धमार्ग उस श्रेणी का नहीं था जिसे बाद में मत्स्येंद्रनाथ ने अपने कौलज्ञान के रूप में अवतारित किया। दन्तकथाओं से यह स्पष्ट है कि मत्स्येंद्रनाथ अपना असली मत छोड़कर कदली देश की स्त्रियों की माया में फँस गए थे। ये कदली-स्त्रियाँ योगिनी थीं, यह बात गोरक्षविजय आदि ग्रंथों से स्पष्ट है। कौलज्ञाननिर्णय से भी इस बात की पुष्टि होती है कि जिस साधनमार्गपरक शास्त्र की चर्चा इस ग्रंथ में हो रही है वह शास्त्र कामरूप की योगिनियों के घर-घर में विद्यमान था और मत्स्येंद्रनाथ उसी कामरूपी स्त्रियों के घर से अनायास-लब्ध शास्त्र का सार संकलन कर सके थे।[1] तंत्रालोक की टीका के जो श्लोक हमने पहले उद्धृत किए हैं, उन से भी पता चलता है कि मत्स्येंद्रनाथ ने कामरूप में साधना की थी। कामरूप की योगिनियों के मायाजाल से गोरक्षनाथ ने मत्स्येंद्रनाथ का उद्धार किया था, यह भी दन्तकथाओं से स्पष्ट है। योगिसंप्रदायाविष्कृति में एक प्रसंग इस प्रकार का भी है कि वाममार्गी लोग गोरक्षनाथ को अपने मार्ग में ले जाना चाहते थे।[2] बाद में क्या हुआ, इस विषय में उक्त ग्रंथ मौन है। परन्तु सारी बातों पर विचार करने से यह अनुमान पुष्ट होता है कि मत्स्येंद्रनाथ पहले सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुयायी थे, बाद में कामरूप में वाममार्गी साधना में प्रवृत्त हुए और वहाँ से कौलज्ञान अवतारित किया और इसके पश्चात् अपने प्रवीण शिष्य गोरक्षनाथ के द्वारा उद्बुद्ध होकर फिर पुराने रास्ते पर आ गए।

ध्यान देने की बात यह है कि 'कुल' शब्द का प्रयोग भारतीय साधना-साहित्य में बहुत हुआ है, परन्तु सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी के पहले इस प्रकार के अर्थ में

१. तस्य मध्ये इमं नाथ सारभूतं समुद्धृतं।
कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे ॥ २२ । १० ।

२. यो० सं० आ०, ३६ अध्याय।

कदाचित् ही हुआ है। बौद्ध तांत्रिकों में संभवतः डोम्बी हेरुक ने ही इस शब्द का प्रयोग इससे मिलते-जुलते अर्थ में किया है। साधनमाला में एक साधना के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि कुल-सेवा से ही सर्व-काम-प्रदायिनी शुभ सिद्धि प्राप्त होती है।[1] इस शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि पाँच ध्यानी बुद्धों से पाँच कुलों की उत्पत्ति हुई है। अक्षोभ्य से वज्र-कुल, अमिताभ से पद्म-कुल, रत्नसंभव से भावरत्न-कुल वैरोचन से चक्र-कुल और अमोघसिद्धि से कर्म-कुल उत्पन्न हुए थे।[2] प्रो० विनयतोष भट्टाचार्य ने डोम्बी हेरुक का काल सन् ७७७ ई० माना है।[3] कौलज्ञाननिर्णय से इस प्रकार की कुलकल्पना का कोई आभास नहीं मिलता। परन्तु इतना जरूर लगता है कि शुरू शुरू में वे सिद्ध मार्ग या सिद्ध-कौल मार्ग के उपासक थे। कौलज्ञान उनके परवर्ती, और संभवतः मध्यवर्ती जीवन का ज्ञान है।

प्रश्न यह है कि वह सिद्धान्त क्या था जिसके अनुयायी मत्स्येंद्रनाथ थे और जिसे छोड़कर उन्होंने अन्य मार्ग का अवलंबन किया था? दन्तकथाओं से अनुमान होता है कि वह मार्ग पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आश्रित था, देवी अर्थात् शक्ति उसकी प्रतिद्वन्दिनी थीं और उसमें स्त्रीसंग पूर्णरूप से वर्जित था। गोरक्षनाथ ने कामरूप से मत्स्येंद्रनाथ का उद्धार करके उन्हें इसी मत में फिर लौटा लिया था।

कौलज्ञाननिर्णय में निम्नलिखित विषयों का विस्तार है—सृष्टि, प्रलय, मानस लिंग का मानसोपचार से पूजन, निग्रह-अनुग्रह-क्रामण-हरण, प्रतिमाजल्पन, घट पाषाण-स्फोटन आदि सिद्धियाँ, भ्रान्तिनिरसन ज्ञान, जीवस्वरूप, जरा-मरण, पलित (केशों का पकना) का निवारण, अकुल से कुल की उत्पत्ति तथा कुल का पूजनादि गुरुपंक्ति, सिद्धपंक्ति और योगिनी पंक्ति, चक्रध्यान, अद्वैतचर्या, पात्रचर्या, न्यासविधि शीघ्र सिद्धि देने वाली ध्यानमुद्रा, महाप्रलय के समय भैरव की आत्मरक्षा, भक्ष्यविधान तथा कौलज्ञान का अवतारण, आत्मवाद, सिद्धपूजन और कुलद्वीप-विज्ञान, देहस्थ चक्रस्थिता देवियाँ, कपाल भेद, कौलमार्ग का विस्तार, योगिनी संचार और देहस्थ सिद्धों की पूजा।

इन विषयों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि कौलज्ञान सिद्धिपरक विद्या है और यद्यपि शास्त्र में अद्वैत भाव की चर्चा है, पर मुख्यत: यह उन अधिकारियों के लिये लिखा गया है जो कुल और अकुल—शक्ति और शिव—के भेद को भूल नहीं सके हैं। इसके विपरीत अकुलवीरतंत्र का अधिकारी वह है जिसे अद्वैत ज्ञान हो गया है और जो अच्छी तरह समझ चुका है कि कुल और अकुल में कोई भेद नहीं है, शक्ति और शिव अविच्छिन्नभाव से विराज रहे हैं। यद्यपि कौलज्ञाननिर्णय हृदय स्थित

---

१. कुलसेवात् भवेत् सिद्धिः सर्वकाम प्रदा शुभा।

२. अक्षोभ्यवज्रमित्युक्तं अमिताभः पद्ममेव च।
रत्नसंभवो भावरत्नः वैरोचनस्तथागतः॥
अमोघः कर्ममित्युक्तं कुलान्येतानि संक्षिपेत्।

३. साधनमाला, प्रस्तावना, पृ० ४०-४१

अनेक पद्म-चक्रों की चर्चा करता है, पर यह लक्ष्य करने की बात है कि 'कुण्डली' शब्द भी उसमें नहीं आया है। कुण्डलीयोग या कुण्डलिनीयोग परवर्ती नाथपंथियों की सर्वमान्य साधना है। फिर 'समरस' या 'सामरस्य' की भी कोई चर्चा नहीं है। केवल अकुलवीरतंत्र में ये दोनों शब्द आते हैं। वहाँ कुण्डली और सहज, ये दोनों योग कौल मार्ग में विहित हैं, ऐसा स्पष्ट लिखा है। 'कुण्डली' कृत्रिम (कृतक) अर्थात् दुरूह साधना से प्राप्य योग है और 'सहज' समरस में स्थिति-वश प्राप्य योग है (अकुलवीरतंत्र, बी० ४३) कुण्डली योग में द्वैतभाव प्रेय-प्रेरकभाव) बना रहता है और सहज में वह लुप्त हो गया होता है (४४)। कौलावलीनिर्णय में इसी प्रेय-प्रेरक भाव के मध्यम अधिकारी के लिये चक्रध्यान की साधना विहित है, पर अकुलवीरतंत्र में उस सहज-साधना की चर्चा है जो प्रेय-प्रेरक रूप द्वैत भावना के अतीत है। इसमें ध्यान-धारणा-प्राणायाम की जरूरत नहीं (अ० वी० तंत्र—बी० ११२), इड़ा-पिंगला और चक्रध्यान अनावशक हैं (१२३—१२५)। यह सहज समरसानंद का प्रदाता अकुल वीरमार्ग है—कौलमार्ग की समस्त विधियाँ यहाँ अनावश्यक हैं। इस तंत्र का स्वर गोरक्षसंहिता से पूरी तरह मिलता है। क्या कौलज्ञाननिर्णय मत्स्येंद्रनाथ द्वारा प्रवर्तित योगिनीकौल का द्योतक है और अकुलवीरतंत्र उनके पूर्व परित्यक्त और बाद में स्वीकृत सिद्ध मत का? दोनों को मिलाने पर यह धारणा दृढ़ ही होती है।

फिर यह भी प्रश्न होता है कि बौद्ध सहजयानी और वज्रयानी सिद्धों से इस मत का क्या सबंध था। डा० बागची ने कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका में बताया है कि बौद्ध सिद्धों की कई बातों से कौलज्ञाननिर्णय की कई बातें मिलतीं हैं। (१) सहज पर जोर देना, (२) बाह्याचार का विरोध, (३) कुलक्षेत्र और पीठों की चर्चा, (४) वशीकरण का प्रयोग, (५) पंचपवित्र आदि बौद्ध पारिभाषिक शब्द सूचित करते हैं कि इस साधना का संबंध बौद्ध साधना से था अवश्य। इस बात में तो कोई सन्देह ही नहीं कि जिन दिनों मत्स्येन्द्रनाथ का प्रादुर्भाव हुआ था उन दिनों बौद्ध और ब्राह्मण तंत्रों में बहुत सी बातें मिलती-जुलती रही होंगी। एक दूसरे पर प्रभाव भी जरूर पड़ता रहता होगा। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि मत्स्येंन्द्र नाथ तिब्बती परंपरा में भी बहुत बड़े सिद्ध माने जाते हैं और नेपाल के बौद्ध तो उन्हें अवलोकितेश्वर का अवतार ही मानते हैं। इसलिये उनकी प्रवर्तित साधना में ऐसी कोई बात जरूर रही होगी जिसे लोग विशुद्ध बौद्ध समझ सकते। ऊपर की पाँच बातें बौद्ध तंत्रों में भूरिशः आती हैं, पर ब्राह्मण तंत्रों में भी उन्हें खोज निकालना कठिन नहीं है। यह कह सकना बहुत कठिन है कि जिन तंत्रों में या उपनिषदों में ये शब्द आए हैं वे बौद्ध तंत्रों के बाद के ही हैं। कई ग्रंथ नये भी हैं और कई पुराने भी। इन विषयों की जो चर्चा हुई है वह इतनी अल्प और अपर्याप्त है कि उस पर से कुछ निश्चय पूर्वक कहना साहसमात्र है। परन्तु नाथ-परंपरा की सभी पुस्तकों के अध्ययन से ऐसा ही लगता है कि पुराना सिद्ध मार्ग मुख्य रूप से योगपरक था और पंच मकारों या पंचपवित्रों की व्याख्या उसमें सदा रूपक के रूप में

ही हुआ करती थी। यह उल्लेख योग्य बात है कि कौलज्ञाननिर्णय में जो परंपरा बताई गई है वहां शिव (भैरव) के विभिन्न युग के कई अवतारों का उल्लेख तो है पर कहीं भी बुद्ध या बोधिसत्व अवतार का नाम नहीं है। अवलोकितेश्वर के अवतार का भी उसमें पता नहीं है। इसके विरुद्ध सहजयानी सिद्धों की पोथियों में बराबर तथागत का नाम आता है और वे अपने को शायद कहीं भी कौल नहीं कहते। मत्स्येन्द्रनाथ ने जिस प्राचीन कौलमार्ग की चर्चा की है वह निश्चय ही शाक्तमत था, बौद्ध नहीं। अकुलवीरतंत्र में बौद्धों को स्पष्ट रूप से मिथ्यावादी और मुक्ति का अपात्र बताया गया है।[1]

(२) कुल और अकुल

कुल और अकुल शब्द के अर्थ पर भी विचार कर लेना चाहिए। कौल लोगों के मत से 'कुल' का अर्थ शक्ति है और 'अकुल' का अर्थ शिव है। कुल से अकुल का संबंधस्थापन ही 'कौल' मार्ग है।[2] इसलिये कुल और अकुल को मिला कर समरस बनाना ही कौल साधना का लक्ष्य है और 'कुल' और 'अकुल' का सामरस्य (=समरस होना) ही कौल ज्ञान है। 'कुल' शब्द के और भी अनेक अर्थ किए गए हैं, परन्तु यही मुख्य अर्थ है। शिव का नाम अकुल होना उचित ही है क्योंकि उनका कोई कुल-गोत्र नहीं है, आदि अन्त नहीं है।[3] शिव की सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा का नाम ही शक्ति है। शक्ति से समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, शक्ति शिव की प्रिया है। परन्तु शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं है। चन्द्रमा और चन्द्रिका का जो संबंध है वही शिव और शक्ति का संबंध है।[3] सिद्धसिद्धान्तसंग्रह के चतुर्थ उपदेश में कहा गया है कि शिव अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अविनश्वर, धर्म-हीन और निरंग हैं, इसीलिये

---

१. संवादयन्ति ये केचिन्न्यायवैशेषिकास्तथा।
बौद्धास्तु अरहन्ता ये सोमसिद्धा तवादिनः ॥ ७ ॥
मीमांसा पंचस्रोताश्च वामसिद्धान्तदक्षिणाः।
इतिहासपुराणं च भूततत्त्वं तु गारुडम् ॥ ८ ॥
एभिः शैवागमैः सर्वैः परोक्षं च क्रियान्वितैः।
सविकल्पसिद्धिसंचारं तत्सर्वं पापबंधवित् ॥ ९ ॥
विकल्प बहुलाः सर्वे मिथ्यावादा निरर्थकाः।
न ते मुञ्चन्ति संसारे अकुलवीरविवर्जिताः ॥ १० ॥
—अकुलवीरतंत्र—ए०

२. कुलं शक्तिरितिप्रोक्तमकुलं शिव उच्यते ॥
कुलेऽकुलेस्य संबंधः कौलमित्यभिधीयते ॥ – सौभाग्यभास्कर, पृ० ५३

३. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
गो० सि० सं० में उद्धृत, पृ० ६७

उन्हें 'अकुल' कहा जाता है।[1] चूँकि शक्ति सृष्टि का हेतु है और समस्त जगत रूपी प्रपंच की प्रवर्तिका है इसलिये उसे 'कुल' (= वंश) कहते हैं।[2] शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं।[3] इकार शक्ति का वाचक है और शिव में से इकार निकाल देने से वह 'शव' हो जाता है,[4] इसीलिये शक्ति ही उपास्य है। इस शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त लोग ही कौल हैं। यह मत बौद्ध धर्मसाधना से मूलतः भिन्न है। इस साधना के लक्ष्य हैं अखण्ड, अद्वय और अविनश्वर शिव और बौद्ध साधना का लक्ष्य है नैरात्म्य भाव। वे लोग किसी अविनश्वर सत्ता में विश्वास नहीं रखते। कौलज्ञाननिर्णय में भी शिव और शक्ति के उपर्युक्त संबंध का प्रतिपादन है।[5] कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष के बिना छाया नहीं रह सकती, अग्नि के बिना धूम नहीं रह सकता उसी प्रकार शिव और शक्ति अविच्छेद्य हैं, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।[6]

कौल मार्ग का अत्यन्त संक्षिप्त और फिर भी अत्यन्त शक्तिशाली उपस्थापन कौलोपनिषद् में दिया हुआ है। इस उपनिषद् के पढ़ने से इस मत के साधकों का अडिग विश्वास और रूढ़िविरोधी मनोभाव स्पष्ट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध नैरात्म्यवाद से इस मत का मौलिक भेद है। यह उपनिषद् सूत्र रूप में लिखी गई है। आरम्भ में कहा गया है कि ब्रह्म का विचार हो जाने के बाद ब्रह्मशक्ति (धर्म) की जिज्ञासा होती है। ज्ञान और बुद्धि ये दोनों ही धर्म (शक्ति) के स्वरूप हैं।, जिन में एकमात्र ज्ञान ही मोक्ष का कारण है; और मोक्ष वस्तुतः सर्वात्मता सिद्धि (अर्थात् समस्त जागतिक प्रपंचों के साथ अपने को अभिन्न समझने) को कहते हैं। प्रपंच से तात्पर्य पांच विषयों (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) से है। इन पांच विषयों को जानने वाला प्राण-विशिष्ट जीव भी अभिन्न ही है। फिर योग और मोक्ष दोनों ज्ञान हैं, अधर्म

१. वर्णगोत्रादिराहित्यादेक एवाकुलं मतम्।
अनन्त्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनाशनात्
निर्धर्मत्वादनंगत्वदकुलं स्यान्निरन्तरम्। —सि० सि० सं० ४।१०-११

२. कुलस्य सामरस्येति सृष्टि हेतुः प्रकाशभूः।
सा चापरंपरा शक्तिराज्ञेशस्यापरं कुलम्।
प्रपञ्चस्य समस्तस्य जगदुपप्रवर्तनात्॥ —सि० सि० सं० ४।१२-१३

३. शिवोऽपिशक्ति रहितः कर्तुं शक्तो न किंचन।
शिवः स्वशक्तिसहितो ह्याभासाद् भासको भवेत्॥ वही० ४।२६

४. शिवोऽपिशवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।
—देवीभागवत का वचन

५. अकुलंतु इमं भद्रे यत्राहं तिष्ठते सदा। कौ० ज्ञा० नि० १६-४१

६. न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
अन्योऽन्यं च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये।
न वृक्षरहिता छाया नच्छाया रहितो द्रुमः॥ १७ ८-६

का कारण अज्ञान है, परन्तु यह अज्ञान भी ज्ञान से भिन्न नहीं है। मतलब यह कि यद्यपि ब्रह्म का कोई धर्म नहीं है फिर भी अविद्या के कारण ब्रह्म को ही मनुष्य नानारूपधर्मारोप के साथ देखता है; यह अविद्या भी ज्ञान (अर्थात् ब्रह्म की शक्ति) ही है। प्रपञ्च ही ईश्वर है और अनित्य भी नित्य है क्योंकि वह भी ब्रह्मशक्ति का रूप ही है। अज्ञान ही ज्ञान है और अधर्म ही धर्म है (इसका मतलब यह है कि ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति में कोई भेद नहीं है) यही मुक्ति है। जीव के पांच बंधन हैं—(१) अनात्मा में आत्म बुद्धि, (२) आत्मा में अनात्म बुद्धि, (३) जीवों में परस्पर भेद ज्ञान (४) ईश्वर (अर्थात् उपास्य) और आत्मा (अर्थात् उपासक) में भेद बुद्धि, और (५) चैतन्य अर्थात् परं ब्रह्म से आत्मा को पृथक् समझने की बुद्धि ये पांचों बंधन भी ज्ञानरूप ही हैं क्योंकि ये सभी ब्रह्मशक्ति के विलास हैं। इन्हों बंधों के कारण मनुष्य जन्म-मरण के चक्रों में पड़ता है। इसी देह में मोक्ष है। ज्ञान यह है :— समस्त इन्द्रियों में नयन प्रधान है, नयन अर्थात् आत्मा। धर्मविरुद्ध कार्य करणीय हैं; धर्म विहित करणीय नहीं है (यहाँ धर्म का तात्पर्य धर्मशास्त्र से है जो सीमित जीवन के विधि-निषेध का व्यवस्थापक माना जाता है) सब कुछ शांभवी (शक्ति) का रूप है। इस मार्ग के साधक के लिये वेद मान्य नहीं है गुरु एक ही होता है और अन्त में सर्वैक्यता बुद्धि प्राप्त होती है मंत्रसिद्धि के पूर्व वेदादि त्याग करना चाहिए उपासना-पद्धति को प्रकट नहीं करना चाहिये। अन्याय ही न्याय है किसी को कुछ नहीं गिनना चाहिए। अपना रहस्य शिष्य-भिन्न किसी को नहीं बताना चाहिए। भीतर से शाक्त, बाहर से शैव और लोक में वैष्णव होकर रहना—यही आचार है। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है। लोकनिन्दा वर्जनीय है। अध्यात्म यह है - अनाचरण न करे, नियम-पूर्वक न रहे, नियम मोक्ष का बाधक है, कभी कौल संप्रदाय की स्थापना नहीं करनी चाहिए। सब में समता की बुद्धि रखनी चाहिए; ऐसा करनेवाला ही मुक्त होता है—वही मुक्त होता है।

संक्षेप में कौलोपनिषद् का यही मर्म है। इसमें स्पष्टतः ही ऐसी बहुत सी बातें हैं जो अपरिचित श्रोता के चित्त को झकझोर देती हैं। थोड़ी और चर्चा करके उस का रहस्य समझ लेना चाहिए क्योंकि नाथसंप्रदाय की साधना को इन बातों ने प्रभावित किया है। ब्रह्माण्डपुराण के उत्तरखंड में एक स्तोत्र है ललितासहस्रनाम। इस स्तोत्र पर सौभाग्यराय नामक काशी के महाराष्ट्रीय पंडित ने सौभाग्यभास्कर नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी थी, जो अब निर्णयसागर प्रेस से छप गई है। भास्करराय ने वामकेश्वरतंत्र के अन्तर्गत जो नित्याषोडशिकार्णव है उस पर भी १६५४ शके में सेतुबंध नाम की टीका लिखी थी। इन टीकाओं में कई स्थलों पर 'कुल' शब्द की अनेक प्रकार की व्याख्याएँ दी हुई हैं। आधुनिक पंडितों ने 'कुल' शब्द का अर्थ-विचार करते समय प्रायः ही सौभाग्यराय की व्याख्याएं उद्धृत की हैं।[1] संक्षेप में उन्हें यहां संग्रह किया जा रहा है।

१. (१) भारतीय दर्शन, पृ० ५४१ और आगे
(२) कौलमार्गरहस्य, पृ० ४-८
(३) कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका, पृ० १९-३८

(१) दार्शनिक अर्थ—संसार के सभी पदार्थ ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान इन तीन विभागों में विभक्त हैं। ज्ञाता ज्ञान का कर्त्ता है और ज्ञेय उसका विषय। जानने की क्रिया का नाम ज्ञान है। जगत् के जितने पदार्थ हैं वे सभी 'मेरे' ज्ञान के विषय हैं इसलिये "मैं" ज्ञान का कर्त्ता हुआ। और 'मैं जानता हूं'—यह ज्ञान क्रिया है। इस प्रकार एक ज्ञान समवायसंबंध से ज्ञाता में, विषयतासंबंध से ज्ञेय में और तादात्म्य संबंध से ज्ञानक्रिया में रहा करता है मैं 'घट को जानता हूं' इस स्थल पर 'ज्ञान' को प्रकाशित करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है, परन्तु मैं 'ज्ञान को जानता हूं' इस स्थल पर ज्ञान को प्रकाशित करने के लिये भिन्न ज्ञान की जरूरत नहीं है। क्योंकि ज्ञान अपने को आप ही प्रकाशित करता है—वह स्वप्रकाश है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने के लिये दीप की आवश्यकता होती है पर दीप को प्रकाशित करने के लिये दूसरे दीप की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह स्वप्रकाश है, इसी प्रकार ज्ञान भी अपनेको आप ही प्रकाशित करता है। सो, यह जगत् ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान के रूप में त्रिपुटीकृत है। इस त्रिपुटीकृत जगत् के समस्त पदार्थ ज्ञान रूप धर्म के एक होने के कारण 'सजातीय' हैं और इसीलिये वे 'कुल' (=जाति) कहे जाते हैं। इस कुल संबंधी ज्ञान को ही कौलज्ञान कहते हैं। अर्थात् समस्त जागतिक पदार्थों का त्रिपुटीभाव से जो ज्ञान है, वही कौलज्ञान है और भी स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, जगत् ब्रह्ममय है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है—इस प्रकार का जो परिपूर्ण अद्वैतज्ञान है वही कौलज्ञान है।[१] जो लोग इस ज्ञान के साधक हैं वे भी इसीलिये कौल कहे जाते हैं।

२—वंशपरक अर्थ—'कुल' शब्द का साक्षात्संकेतित अर्थ वंश है। यह दो प्रकार का होता है—(१) विद्या से और (२) जन्म से। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में इस बात को इस प्रकार कहा गया है कि सृष्टि दो प्रकार की होती है। नादरूपा और विन्दुरूपा। नादरूपा सृष्टि गुरुपरंपरा से और बिन्दुरूपा जन्मपरंपरा से।[२] चूंकि इस मार्ग में परम शिव से लेकर परम गुरु तक चली आती हुई ज्ञान परंपरा का ही प्रधान्य है, इसलिये विद्याक्रम को ही 'कुल' कहा जाता है। इसी कुल के अनुवर्ती 'कौल' हैं।

३—रहस्यपरक अर्थ—(१) कुल का अर्थ जाति है। एक ही जाति के वस्तुओं में अज्ञानवश भिन्नजातीयता का भान हो गया होता है। उपास्य भी चेतन है उपासक भी चेतन है। इन दोनों को एक ही 'कुल' की वस्तु बताने वाले शास्त्र भी कुल शास्त्र हुए इन शास्त्रों को मानने वाले इसीलिये कौल कहे जाते हैं।

४—योगपरक अर्थ—सौभाग्यभास्कर (पृ० ३५) में 'कुल' शब्द का एक योगपरक अर्थ भी दिया हुआ। 'कु' का अर्थ पृथ्वी है और 'ल' का अर्थ 'लीन' होना। हम आगे चलकर देखेंगे कि पृथ्वीतत्व मूलाधार चक्र में रहता है। इसलिए मूलाधार

१. कौ० मा० र०, पृ० ४-६
२. गो० सि० सं०, पृ० ७१

चक्र को 'कुल' कहते हैं। इसी मूलाधार से सुषुम्ना नाड़ी निकली हुई है जिसके भीतर से उठकर कुण्डलिनी सहस्रार चक्र में परमशिव से सामरस्य प्राप्त करती है। इसीलिये लक्षणा वृत्ति से सुषुम्ना को भी 'कुल' कहते हैं।[1] तत्त्वसार नामक ग्रंथ में कुण्डलिनी को शक्तिरूप में बताया गया है। शक्ति ही सृष्टि है, और सृष्टि ही कुण्डली।[2] इसीलिये कुण्डलिनी को भी कुल कुण्डलिनी कहा जाता है।

(३) दार्शनिक सिद्धान्त

तंत्रमत दार्शनिक दृष्टि से सत्कार्यवादी है। जो वस्तु कभी थी ही नहीं वह कभी हो नहीं सकती। कार्य की अव्यक्तावस्था का नाम ही 'कारण' है और कारण की व्यक्तावस्था का नाम ही 'कार्य' है।

प्रलयकाल में समग्र जगत्प्रपंच को अपने आप में विलीन करके और समस्त प्राणियों के कर्मफल को सूक्ष्म रूप से अपने में स्थापन करके एकमात्र अद्वितीय परशिव विराजमान रहते हैं। सृष्टि का चक्र जब फिर शुरू होता है (क्योंकि प्रलयकालीन प्राणियों का अवशिष्ट कर्मफल परिपक्व होने को शेष रह गया होता है और इसी कर्मफल के परिपाक के लिये जगत्प्रपञ्च फिर शुरू होता है) तो शिव में अव्यक्त भाव से स्थित शक्ति फिर से 'सिसृक्षा' के रूप में व्यक्त होती है। यह प्रथम आविर्भूता आद्या शक्ति ही 'त्रिपुरा' है। तांत्रिक लोगों का सिद्धान्त है कि यद्यपि परब्रह्म सदा वर्तमान रहते हैं तथापि इस 'त्रिपुरा' शक्ति के बिना वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते। यह शक्ति स्वयं आविर्भूत होती है और स्वयमेव सृष्टिविधान करती है। 'सिसृक्षा' शब्द का अर्थ है सृष्टि की इच्छा। यद्यपि यह शक्ति इच्छारूपा है तथापि चिन्मात्र (परब्रह्म) से उत्पन्न होने के कारण यह चिद्रूपा भी है। शक्ति ने ही सृष्टि विधान के द्वारा जगत् को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में कल्पित किया है। इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेय ज्ञातृ रूप त्रिपुटीकृत जगत् की पुरोवर्तिनी आदिभूता होने के कारण ही यह शक्ति 'त्रिपुरा' कही जाती है।[3] मत्स्येंद्रनाथ के कौल ज्ञान में इस शक्ति का इसी नाम से निर्देश नहीं पाया जाता पर यह स्पष्ट रूप से जान पड़ता है कि तांत्रिकों के सृष्टितत्त्व को वे भी उसी प्रकार मानते हैं। परन्तु यदि तंत्रशास्त्र

---

१. वेदशास्त्रपुराणानि सामान्य गणिका इव।
सा पुनः शांकरी मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव॥
—गो० सि० सं०, पृ० १३

२. तत्त्वसारेऽयमेवार्थो निरूपणपदे कृतः।
सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा॥
सि० सि० सं०, ४. ३० ॥

३. त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका॥
कवलीकृतनिःशेष तत्त्वग्रामस्वरूपिणी।
तस्यां परिणातायान्तु न कश्चित् पर इष्यते॥
वामकेश्वर तंत्र (४। ४-५) के इन श्लोकों पर सेतुबंध टीका (१३४-५) देखिए।

सातवां तत्व है : इस सातवें तत्व से आच्छन्न होने पर जो सर्वज्ञ था वह अपने को 'किंचिज्ज्ञ' अर्थात् 'थोड़ा जानने वाला' समझने लगता है। फिर क्रमश माया के बंधन से शिव की सब कुछ करने की शक्ति [सर्वकर्तृत्व] संकुचित होकर 'कुछ करने' की शक्ति बन जाती है, इसे कला कहते हैं; फिर उनको 'नित्यतृप्तता' संकुचित हो अपूर्ण 'तृप्ति' का रूप धारण करती है—यही राग तत्त्व है; उनका नित्यत्व संकुचित होकर छोटी सीमा में बंध जाता है, इसे काल तत्व कहते हैं, और उनको सर्वव्यापकता भी संकुचित होकर नियत देश में संकीर्ण हो जाती है—इसे नियति तत्व कहा जाता है। इस प्रकार माया के बाद उसके ६ संकोचनकारी तत्त्व या कँचुक प्रकट होते हैं और उन्हें क्रमशः (७) विद्या या अविद्या (८) कला (९) राग (१०) काल और (११) नियति ये तत्व उत्पन्न होते हैं। इन ६ कंचुकों स बद्ध शिव ही 'जीव' रूप में प्रकट हैं, जीव तेरहवाँ तत्व है। यही सांख्य लोगों का 'पुरुष' है इस के बाद का क्रम वही है जो सांख्यों का है। तांत्रिक और शैव लोग सांख्य के २४ तत्वों के अतिरिक्त पूर्वोक्त बारह तत्वों को अधिक मानते हैं।

चौदहवां तत्व प्रकृति है जो सत्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है प्रकृति को ही चित्त कहते हैं। रजोगुणप्रधान अन्तःकरण का मन कहते हैं यह संकल्प का हेतु है। इस अवस्था में सत्व और तमः ये दो गुण अभिभूत रहते हैं। इसी प्रकार जब रजः और तमः गुण अभिभूत रहते हैं और सत्वगुण प्रधान होता है उस अवस्था का नाम बुद्धि है। वह निश्चयात्मक ज्ञानका हेतु है। तथा जब सत्व और रज ये दोनों गुण अभिभूत रहते हैं और सत्वगुण प्रधान होता है तो इस अवस्था का नाम अहंकार है। इसमें भेद ज्ञान प्रधान होता है। इस प्रकार जीव नामक तत्व के बाद (१४ प्रकृति (१५) मन (१६) बुद्धि और (१७) अहंकार ये चार और तत्व उत्पन्न हुए।

इसके बाद पांच ज्ञानेंद्रिय, पांच कर्मेंद्रिय, पांच तन्मात्र और पांच स्थूल महाभूत ये पंद्रह तत्व उत्पन्न होते हैं। यही तांत्रिकों के ३६ तत्व हैं। यही शैव योगियों को भी मान्य हैं। किन्तु कौलज्ञान निर्णय में इन को कोई स्पष्ट चर्चा नहीं मिलती।

भगवान् सदाशिव ने अपने पाँच मुखों से पांच आम्नायों का उपदेश दिया था—(१) सद्योजात नामक पूर्वमुख से पूर्वाम्नाय, (२) अघोर नामक दक्षिण मुख से दक्षिणाम्नाय, (३) तत्पुरुष नामक पश्चिम मुख से पश्चिमाम्नाय, (४) वामदेव नामक उत्तर मुख से उत्तराम्नाय और (५) ईशान नामक ऊपरी मुख से ऊर्द्ध्वाम्नाय। इन पांच आम्नायों में इन्हीं ३६ तत्वों का निर्णय हुआ है।[1] ऊपर के विवरण से इनका क्रम विदित होगा। सब तत्वों का यहां फिर से एकत्र संकलन किया जा रहा है—

१. शिव	५. शुद्धविद्या
२. शक्ति	६. माया
३. सदाशिव	७. विद्या (अविद्या)
४. ईश्वर	८. कला

१. परशुरामकल्पसूत्र । २—४ परामेश्वर की टीका।

९.	राग	२३.	पाणि (हाथ)
१०.	काल	२४.	पाद (चरण)
११.	नियति	२५.	पायु
१२.	जीव	२६.	उपस्थ
१३.	प्रकृति	२७.	शब्द
१४.	मन	२८.	स्पर्श
१५.	बुद्धि	२९.	रूप
१६.	अहंकार	३०.	रस
१७.	श्रोत्र	३१.	गंध
१८.	त्वक्	३२.	आकाश
१९.	चक्षु	३३.	वायु
२०.	जिह्वा	३४.	तेज
२१.	घ्राण	३५.	जल
२२.	वाक्	३६.	पृथ्वी

इन ३६ तत्त्वों में प्रथम दो—शिव और शक्ति—'शिवतत्त्व' कहे जाते हैं। कारण यह है कि इन दो तत्त्वों में सत्-चित-आनंद ये तीनों ही अनावृत और सुस्पष्ट रहते हैं। इसके बाद के तीन तत्त्व—सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या—विद्यातत्त्व कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें आनन्द-अंश तो आवृत रहता है परन्तु सत् और चित्-अंश अनावृत रहते हैं। बाक़ी इकतीस तत्त्व 'आत्मतत्त्व' कहे जाते हैं, क्योंकि उनमें आनंद और चित् ये दोनों ही आवृत रहते हैं और केवल 'सत्' (=सत्ता) अंश ही प्रकट और अनावृत रहता है। चित् अंश के आवृत रहने के कारण ये तत्त्व जड़वत् प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सारे ३६ तत्त्व तीन ही तत्त्वों के अन्तर्गत आ जाते हैं—(१) शिवतत्त्व (२) विद्यातत्त्व और (३) आत्मतत्त्व। 'आत्मतत्त्व' में आए हुए 'आत्म' शब्द को देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ये चैतन्यप्रधान हैं। वस्तुतः 'आत्म' शब्द का प्रयोग यहाँ जड़ शरीर का आत्मा समझने के अर्थ में हुआ है।

यह स्पष्ट है कि शिव ही जीव रूप में परिणत होते हैं। माया तीन प्रकार के मलों से शिव को आच्छादित करती है तब शिव 'जीव' रूप में व्यक्त होते हैं। ये तीन मल हैं—(१) आणव अर्थात् अपने को अणुमात्र समझना, (२) मायिक अर्थात् जगत् के तत्त्वतः एक अद्वैत पदार्थों में भेदबुद्धि और (३) कर्म अर्थात् नाना जन्मों में स्वीकृत कर्मों का संस्कार। इन्हीं तीन मलों से आच्छन्न शिव ही जीव हैं। इसी लिये परशुराम कल्पसूत्र में कहा गया है कि 'शरीरकञ्चुकितः शिवो जीवो निष्कञ्चुकः परमशिवः' (१।५) अर्थात् शरीर (तीन मलों का परिणाम) द्वारा आच्छादित शिव ही जीव है और अनाच्छादित जीव ही शिव है। इसी लिये कौलज्ञाननिर्णय में मत्स्येंद्रपाद ने कहा है कि वस्तुतः जीव से ही जगत् सृष्ट हुआ है, जीव ही समस्त तत्त्वों का नायक है क्योंकि यह जीव ही हंस है, यही शिव है, यही व्यापक परशिव है; और सर्व पूछिए तो वही मन भी है, वही चराचर में व्याप्त है। इसी लिये अपने को अपने ही समझ कर

वह-जीव—जो वस्तुतः शिव का ही रूप है—भुक्ति और मुक्ति दोनों का दाता है। आत्मा ही गुरु है, आत्मा ही आत्मा को बांधता है, आत्मा ही आत्मा को मुक्त करता है, आत्मा ही आत्मा का प्रभु है। जिसने यह तत्त्व समझ लिया है कि यह काय आत्मा ही है, अपने को आप ही जाना जाता है और अपने से भिन्न समस्त पदार्थ भी आत्मा है वही 'योगिराट्' है, वह स्वयं साक्षात् शिवस्वरूप है और दूसरे को मुक्त करने में भी समर्थ है :—

> जीवेन च जगत् सृष्टं स जीवस्तत्त्वनायक.।
> स जीवःपुद्गलो हंसः स शिवो व्यापकः परः ॥
> स मनस्तूच्यते भद्रे व्यापकः स चराचरे ।
> आत्मानमात्मना ज्ञात्वा भुक्तिमुक्तिप्रदायक ॥
> प्रथमस्तु गुरुर्ह्यात्मा आत्मानं बन्धयेत् पुनः ।
> बंधस्तु मोचयेद्ध्यात्मा आत्मा वै कायरूपिणः ॥
> आत्मनश्चापरो देवि येन ज्ञातःस योगिराट् ।
> स शिवः प्रोच्यते साक्षात् स मुक्तो मोचयेत् परः ॥
>
> —कौ०ज्ञा०नि० १७। ३३—३७

(४) कौल-साधना

यद्यपि गोरक्षसंप्रदाय में यह कहा जाता है कि उनके योगमार्ग और कौल-मार्ग के चरम लक्ष्य में कोई भेद नहीं है सिर्फ इतना ही विशेष है कि योगी पहले से ही अन्तरंग उपासना करने लगता है, परन्तु तांत्रिक पहले बहिरंग उपासना करने के बाद क्रमशः अन्तरंग (कुण्डली) साधना की ओर आता है, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि तांत्रिक कौलों को भी यही मत मान्य है। निस्सन्देह कौलमार्ग में भी यह विश्वास किया जाता है कि योगी और कौल का लक्ष्य एक ही है। संक्षेप में यहां कौल दृष्टिकोण को समझ लेने से हम आसानी से मत्स्येंद्रनाथ के दोनों मार्गों का भेद समझ सकेंगे।[१]

हम आगे चलकर देखेंगे कि योगी लोग भोगवर्जन पूर्वक यम-नियमादि की कठोर साधना द्वारा अष्टांग योग-साधन करके समाधि के अन्त में व्युत्थान अवस्था में निर्विकल्पक आनन्द अनुभव करते हैं। तांत्रिक लोगों का दावा है कि कौल साधक भी इसी आनन्द को अनुभव करते हैं। ये लोग कुलसाधना में विहित विधि से कुलद्रव्य—मद्यादि—का संस्कार करके उसका सेवन करते हैं और सिद्धिलाभ

---

१. बौद्ध तांत्रिकों के सबसे प्राचीन तंत्रों में से एक गुह्य समाज तंत्र है जिसकी रचना संभवतः सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी में हो गई थी उसमें उपसाधन के प्रसंग में तांत्रिक साधना बता लेने के बाद ग्रंथकार ने लिखा है कि यदि ऐसा करने पर भी सिद्धि न मिले तो हठयोग से साधना करनी चाहिए। पृ० १६४)।

करते हुए सातवें उल्लास की अवस्था में पहुँचते है। कुलार्णव तंत्र में मद्यपान से उत्पन्न इन सात उल्लासों की चर्चा है। प्रथम उल्लास का नाम आरंभ है इसमें साधक तीन चुल्लू से अधिक नहीं पी सकता। दूसरी अवस्था तरुण उल्लास' है, जिसमें मन में नये आनन्द का उदय होता है। जरा और अधिक आनन्द की अवस्था का नाम 'यौवन उल्लास' है। यह तीसरी अवस्था है। चौथी अवस्था जिसमें मन और वाक्य किंचित् स्खलित होते रहते हैं, 'प्रौढ़ उल्लास' कही जाती है। पूरी मत्तता आने को 'तदन्तोल्लास' नामक पाँचवीं अवस्था कहते हैं। इसके बाद और पान करने पर एक ऐसी अवस्था आती है जिसमें मनोविकार दूर हो जाते हैं और चित्त अन्तर्निरुद्ध हो रहता है। यही छठीं 'उन्मनी-उल्लास' नामक अवस्था है। अन्तिम अवस्था का नाम 'अनवस्था उल्लास' है। इस अवस्था में जीवात्मा परमात्मा में विलीन होकर ब्रह्मानंद अनुभव करने लगता है। कौल तांत्रिकों का दावा है कि यह आनन्द योगियों द्वारा अनुभूत निर्विकल्पक ब्रह्मानन्द से अभिन्न है।[१] कौलज्ञाननिर्णय में इन उल्लासों की चर्चा नहीं है। परन्तु वहां इसका विधान है अवश्य। कौलज्ञाननिर्णय में प्रायः कुल द्रव्यों की आध्यात्मिक व्याख्या दी हुई है। मानस लिंग, मानस द्रव्य, मानस-पुष्पक, मानस पूजा आदि बातें उसमें सर्वत्र लिखी पाई जाती हैं। नाथपंथियों मे यह बात एकदम लुप्त नहीं हो गई है।

कौलमार्गी का दावा है कि उसका रास्ता सहज है और योगी का दुरूह। रुद्रयामल में कहा गया है कि जहाँ भोग होता है वहां योग नहीं होता और जहां योग होता है वहां भोग नहीं होता, परन्तु श्री सुन्दरी साधना के व्रती पुरुषों को योग और भोग दोनों ही हाथ में ही रहते हैं।[२] कौलज्ञाननिर्णय में 'पंच मकार' शब्द नहीं आया है। 'पंच-पवित्र' जरूर आया है। ये पंच पवित्र हैं -विष्ठा, धारामृत, शुक्र, रक्त और मज्जा साधना में अग्रसर साधक के लिये ये विहित हैं (११ वां पटल)। पंच-मकार की प्रायः सारी बातें—मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा और मैथुन—किसी न किसी रूप में आ गई हैं। ग्यारहवें पटल में जिन पांच उत्तम भोज्यों का उल्लेख है वे हैं—गोमांस, गोघृत, गोरक्त, गोक्षीर और गोदधि। फिर, श्वान, मार्जार, उष्ट्र, हय, कूर्म, कच्छप, वराह, वक, कर्कट, शलाकी, कुक्कुट, शेरक, मृग, महिष, गण्डक और सब प्रकार की मछलियाँ उत्तम भक्ष्य बताई गई हैं। पैष्टी, माध्वी और गौण्डी मद्यों को श्रेष्ठ कहा गया है। अकुलवीरतंत्र में साधना में सिद्ध उस पुरुष के लिये, जिसे अद्वैतज्ञान प्राप्त हो गया है, यह उपदेश है कि जागते-सोते, आहार-विहार, दारिद्र्य-शोक, अभक्ष्यभक्षण में किसी प्रकार का भेदभाव या विचिकित्सा न करे। किसी भी इन्द्रियार्थ के भोग में संशयालु न बने, समस्त वर्णों के साथ एक आचार पालन करे और भक्ष्याभक्ष्य का

---

१. कौ० मा० र०, पृ० ४०-४१

२. यत्रास्ति भोगो न तु तत्र योगो यत्रास्ति मोक्षो न तु तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसाधक पुंगवानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

विचार बिल्कुल न करे। सर्वत्र उसकी बुद्धि इस प्रकार होनी चाहिए कि न मैं ही कोई हूँ न मेरा ही कोई है, न कोई बद्ध है, न बंधन ही है और न कुछ कर ही रहा हूँ।[1]

परवर्ती नाथसंप्रदाय में इन सभी बातों की आध्यात्मिक व्याख्या मिल जाती है। मानों मत्स्येंद्रनाथ के उपदेशों को लक्ष्य करके ही हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि सच्चा कुलीन या कौल साधक वही है जो नित्य गोमांस भक्षण करता है और अमर वारुणी का पान करता है। और योगी तो कुलघातक हैं! क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालु देश में ले जाने को (खेचरी मुद्रा में) ही 'गोमांस-भक्षण' कहते हैं। ब्रह्मरंध्र के सहस्रार पद्म के मूल में योनि नामक त्रिकोणचक्र है, वहीं चंद्रमा का स्थान है। इसी से सदा अमृत झरता रहता है। यही अमर वारुणी है।[2] मत्स्येंद्रनाथ की ज्ञानकारिका (८३-८४) में भी इस प्रकार की यौगिक व्याख्या मिलती है। परन्तु इन यौगिक व्याख्याओं से ही यह स्पष्ट है कि जहाँ कौल साधक मंत्रपूत वास्तविक कुलद्रव्य को सेवनीय समझते हैं, वहाँ योगी उनके योगपरक रूपकों से सन्तोष कर लेते हैं।

फिर भी यह कहा नहीं जा सकता कि गोरक्षनाथ के द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग का जो रूप आजकल उपलब्ध है उसमें योग और भोग को साथ ही साथ पा लेने की साधना एकदम लुप्त हो गई है। वज्रयान और सहजयान का प्रभाव रह ही गया है। महीधर शर्मा ने गोरक्षपद्धति नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया है। इसमें किसी और ग्रंथ से वज्रोली और सहजोली मुद्राएं संगृहीत हैं। ये दोनों ही निश्चित रूप से वज्रयानी और सहजयानी साधनाओं के अवशेष हैं। जो योगी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करता है वह योगोक्त कोई भी नियम पालन किए बिना ही और स्वेच्छापूर्वक आचरण करता हुआ भी सिद्ध हो जाता है। इस मुद्रा में केवल दो ही आवश्यक वस्तुएं हैं, यद्यपि ये सब को सुलभ नहीं हैं। ये वस्तुएं हैं, वशवर्तिनी स्त्री और प्रचुर दूध।[3] पुरुष का सिद्धि

---

१. नाहं कश्चिन्न मे कश्चित् न बद्धो न च बंधनम्।
नाहं किंचित् करोमीति मुक्त इत्यभिधीयते॥
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्जाग्रद् भुज्यमाने च मैथुने।
भयदारिद्र्यशोकैश्च विष्ठामूत्रादिभक्षणे॥
विचिकित्सा नैव कुर्वीत इन्द्रियार्थैः कदाचन।
आचरेत् सर्ववर्णानि न च भक्ष्यं विचारयेत्॥
—अकुलवीरतंत्र—पृ० ६६-६८

२. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥ इत्यादि, हठ०, ३।४६-४८

३. स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्यकस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी॥
—गोरक्षपद्धति, पृ० ४८

के लिये जिस प्रकार स्त्री आवश्यक उपादान है उसी प्रकार स्त्री की सिद्धि के लिये भी पुरुष परम आवश्यक वस्तु है।[1] सो, यह पवित्र योग भोग के आनन्द को देकर भी मुक्ति-दाता है।[2] यहाँ इतना लक्ष्य करने की जरूरत है कि मूल गोरक्षपद्धति में ये श्लोक अन्तर्भुक्त नहीं हैं और कहाँ से लिए गए हैं, यह भी विदित नहीं है। जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आधारित है, उसमें पूर्वोपदिष्ट तंत्रमार्ग के कुलद्रव्यों की केवल योगपरक और आध्यात्मिक व्याख्याएं मिलती हैं। यहां केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि इस मार्ग में उक्त साधनाएँ भी रेंगती हुई और सरकती हुई घुस आई हैं या फिर हटाने के अनेक यत्नों के बावजूद भी छिपी हुई रह गई हैं। घेरण्डसंहिता[3] में इस वज्रोली या वज्रोणी का योगपरक प्रयोग पाया जाता है और सिद्धसिद्धान्तसंग्रह तथा अमरौघशासन में भी इस की चर्चा पाई जाती है।

आजकल जो नाथयोगी संप्रदाय वर्तमान है उस में भी वामाचार का प्रभाव है। ब्रिग्स ने लिखा है कि कुमायूँ में कई स्थानों पर पंच मकारों या कुछ मकारों का प्रचलन है, यद्यपि साधारणतः इसे हीन कोटि की साधना माना जाता है और इस के साधक इस बात को छिपाया करते हैं।[4] बालसुंदरी, त्रिपुरासुन्दरी, त्रिपुराकुमारी की पूजा अब भी प्रचलित है। त्रिपुरा दस महाविद्याओं में एक हैं वे परम शिव की आदि सिसृक्षा हैं और ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान रूप में प्रकट हुए इस त्रिपुटीकृत जगत् की आद्य उद्भाविका हैं। मालाबार में १६ वर्ष की कन्या की पूजा प्रचलित है। इस पूजा का फल बच्चों की रक्षा और वंशवृद्धि है। अलमोड़ा में इस देवी का मंदिर है। त्रिपुरा देवी की पूजा दक्षिणाचार से होती है, मांस बलि नहीं दी जाती। स्त्रियाँ रात-रात भर खड़ी रहकर देवी को प्रसन्न करती हैं और अभिलषित वर पाने की आशा करती हैं। भण्डारकर ने लिखा है कि योगी लोग त्रिपुरसुन्दरी के साथ अपना अभेदज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने को स्त्री रूप में चिन्ता करने का अभ्यास करते हैं। इनके अतिरिक्त भैरवी अष्टनायिकाएँ, मातृकाएँ, योगिनियाँ, शाकिनियाँ, डाकिनियाँ और अन्य अनेक प्रकार की मृदुप्रचण्ड स्वभावा देवियाँ योगिसंप्रदाय में अब भी उपास्य मानी जाती हैं। ब्रिग्स[5] ने बताया है कि कनफटा योगी लिंग और योनि की पूजा करते हैं और विश्वास करते हैं कि वासनाओं को दबाना साधनमार्ग का परिपंथी है। वे स्त्री को पुरुष का परिणाम मानते हैं और इसलिये वामाचार साधना को बहुत

---

१. पुंसो विंदु समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजोरक्षेद् वज्रोल्या सापि योगिनी ॥—पृ० ४२

२. देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्याभ्यासयोगतः।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥—पृ० ५२

३. घेरण्डसंहिता, ३.४५-५८

४. ब्रिग्स, पृ० १७१

५. वही, पृ० १७२-१७४

महत्व दिया जाता है। चक्रपूजा, जिसे मत्स्येंद्रनाथ ने बारबार कौलज्ञाननिर्णय में विवृत किया है, अब भी वर्तमान है। सर्वत्र इस साधना को रहस्यमय और गोप्य समझा जाता है।

(५) कौल साधक का लक्ष्य

कौल साधक का प्रधान कर्तव्य जीवशक्ति कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करना है। हम आगे चल कर इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार करने का अवसर पाएँगे। यहाँ संक्षेप में यह समझ लेना चाहिये कि शक्ति ही महाकुण्डलिनीरूप से जगत् में व्याप्त है। मनुष्य के शरीर में वही कुण्डलिनीरूप से स्थित है। कुण्डलिनी और प्राणशक्ति को लेकर ही जीव मातृकुक्षि में प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्थाओं में रहते हैं : जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न ; अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं, या सोते रहते हैं, या स्वप्न देखते रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इन अवस्थाओं मे इसके द्वारा शरीरधारण का कार्य होता है। इस कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होने की क्रिया के समझने के लिये मनुष्य-शरीर की कुछ खास बातों की जानकारी आवश्यक है। पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहाँ सीधे आकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभु लिंग है जो एक त्रिकोणचक्र में अवस्थित है। इसे अग्नि-चक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलों का एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छः दलों के कमल के आकार का है। इसके भी ऊपर मणिपूर चक्र है और उसके भी ऊपर, हृदय के पास, अनाहत चक्र है। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पद्मों के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कंठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जो सोलह दल के पद्म के आकार का है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है, जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं। इन चक्रों को क्रमशः पार करती हुई उद्बुद्ध कुण्डलिनीशक्ति सब से ऊपर वाले सातवें चक्र (सहस्रार) में परमशिव से मिलती है। इस चक्र में सहस्र दल होने के कारण इसे सहस्रार कहते हैं और परमशिव का निवास होने के कारण कैलाश भी कहते हैं।[1] इस प्रकार सहस्रार में परमशिव, हृदय में जीवात्मा और मूलाधार में कुण्डलिनी विराजमान हैं। जीवात्मा परमशिव से चैतन्य और कुण्डलिनी से शक्ति प्राप्त करता है, इसीलिये कुण्डलिनी जीव-शक्ति है। साधना के द्वारा निद्रिता कुण्डलिनी को जगा कर, मेरुदण्ड की मध्यस्थिता नाड़ी सुषुम्ना

---

१. अतऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ।
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा ।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ॥

— शिवसंहिता ५. १५१-२

के मार्ग से, सहस्रार में स्थित परमशिव तक उत्थापन करना ही कौल साधक का कर्तव्य है[1]। वहीं शिव-शक्ति का मिलन होता है। शिव-शक्ति का यह सामरस्य ही परम आनन्द है[2]। जब यह आनन्द प्राप्त हो जाता है तो साधक के लिये कुछ भी करणीय बाक़ी नहीं रह जाता।

कौलज्ञाननिर्णय में चक्रों की बात है परन्तु वह हूबहू परवर्ती नाथपंथी चक्रों से नहीं मिलती। तृतीय पटल में चार, आठ, बारह, सोलह, चौसठ, सौ, सहस्र, कोटि, सार्ध कोटि और तीन कोटि दल वाले चक्रों का उल्लेख है[3] और बाद में कहा गया है कि इन सब के ऊपर नित्य उदित, अखण्ड, स्वतंत्र पद्म है जहाँ सर्वव्यापी अचल निरंजन (शिव) का स्थान है। यहीं शिव का वह लिंग है जिसकी इच्छा (शक्ति) से सृष्टि होती है और जिसमें समस्त सृष्टि लीन हो जाती है। वस्तुतः इस लीन होने की क्रिया के कारण वह 'लिंग' कहा जाता है। यही अखंडमंडलाकार निर्विकार निष्कल शिव हैं जिनको जाने बिना बंध होता है और जिनको जान लेने से मनुष्य सर्वबंधों से मुक्त हो जाता है।[4] चक्रों के कमलदलों की न्यूनाधिक संख्या से यह नहीं समझना चाहिए कि नाथपंथी मत इस मत से भिन्न है। वस्तुतः नाथपंथ में नाना प्रकार से चक्रों की कल्पना की गई है। असली बात यह है कि सिद्धान्त उभयत्र एक ही है। कौलज्ञाननिर्णय साधनपरक शास्त्र है। उसमें विधियों का ही अधिक उल्लेख है परन्तु मूल रूप से समस्त योगियों और कौलों का जो लक्ष्य है वह इस शास्त्र में भी है। अन्तिम लक्ष्य दोनों का एक ही है।[5]

---

१. निजावेशात् स्यन्दनिबिडतमसैरूप्यविधिवत्—
महासंदावस्था स्फुरति वितता कापि सततम् ॥
ततः संविन्नित्यामलसुखचमत्कारगमकः —
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः ॥
— सि० सि० सं०, ५-११

२. समरसानन्दरूपेण एकाकारं चराचरे।
ये च ज्ञातं स्वदेहस्थमकुलवीरं महाद्भुतम् ॥
—अकुलवीरतंत्र बी. ११४

३. कौ०ज्ञा०नि०, ३. ६—८

४. तस्योर्ध्वे व्यापकं तत्र नित्योदितमखण्डितम्।
स्वातंत्र्यमन्जमचलं सर्वव्यापी निरञ्जनम् ॥
तस्येच्छया भवेत् सृष्टिर्लयं तत्रैव गच्छति।
तेन लिंगं तु विख्यातं यत्र लीनं चराचरम्।
अखण्डमण्डलं रूपं निर्विकारं सनिष्कलम्।
अज्ञात्वा बंधमुद्दिष्टं ज्ञात्वा बंधैः प्रमुच्यते।
—कौ० ज्ञा० नि०, ३. ९-११

५. गो० सि० सं०, पृ० २०

प्रत्येक मनुष्य इस कौल साधना के लिये समान भाव से विकसित नहीं है। कुछ साधक ऐसे होते हैं जिनमें सांसारिक आसक्ति अधिक होती है। इस प्रकार मोह-रूपी पाश या पगहे से बँधे हुए जीवों को 'पशु' कहते हैं। शास्त्र में उनके लिये अलग ढंग की साधना निर्दिष्ट है। परन्तु कुछ साधक ऐसे होते हैं जो अद्वैत ज्ञान का एक उथला-सा आभासमात्र पाकर साधनमार्ग में उत्साहित हो जाते हैं और प्रयत्नपूर्वक मोहपाश को छिन्न कर डालते हैं। इन्हें 'वीर' कहा जाता है। यह साधक क्रमशः अद्वैत ज्ञान की ओर अग्रसर होता रहता है और अन्त में उपास्य देवता के साथ अपने आप की एकात्मकता पहचान जाता है। जो साधक सहज ही अद्वैत ज्ञान को अपना सकता है वह उत्तम साधक 'दिव्य' कहलाता है। इस प्रकार साधक तीन श्रेणी के हुए—पशु, वीर और दिव्य। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं। इन तीनों की अवस्थाओं को क्रमशः पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव कहते हैं। शास्त्र में इसके लिये अलग-अलग साधन-मार्ग उपदिष्ट हैं।

तंत्रशास्त्र में सात प्रकार के आचार बताए गए हैं, वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इन में जो (१) वेदाचार है उसमें वैदिक काम्य कर्म यागयज्ञादि विहित हैं। तंत्र के मत से वह सब से निचली कोटि की उपासना है। (२) वैष्णवाचार में निरामिष भोजन, पवित्र भाव से व्रत-उपवास, ब्रह्मचर्य और भजनासक्ति विहित है, (३) शैवाचार में यम-नियम, ध्यान-धारणा, समाधि और शिव-शक्ति की उपासना, तथा (४) दक्षिणाचार में उपर्युक्त तीनों आचारों के नियमों का पालन करते हुए रात्रिकाल में भांग आदि का सेवन कर के इष्ट मंत्र का जप करना विहित है। यद्यपि इन चारों में पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा श्रेष्ठ है, परन्तु ये चारों ही आचार पशुभाव के साधक के लिये ही विहित हैं। इसके बाद वाले आचार वीरभाव के साधक के लिये हैं। (५) वामाचार में आत्मा को वामा (शक्ति) रूप में कल्पना करके साधना विहित है। (६) सिद्धान्ताचार में मन को अधिकाधिक शुद्ध कर के यह बुद्धि उत्पन्न करने का उपदेश है कि शोधन से संसार की प्रत्येक वस्तु शुद्ध हो जाती है। ब्रह्म से लेकर ढेले तक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो परमशिव से भिन्न हो। इन सब में श्रेष्ठ आचार है (७) कौलाचार। इसमें कोई भी नियम नहीं है। इस आचार के साधक साधना की सर्वोच्च अवस्था में उपनीत हो गए होते हैं; और जैसा कि भा व चू डा म णि में शिवजी ने कहा है, कर्दम और चंदन में, पुत्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में तथा स्वर्ण और तृण में लेशमात्र भी भेद-बुद्धि नहीं रखते—

> कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
> श्मशाने भवने देवि तथा वै काञ्चने तृणे।
> न भेदो यस्य लेशोऽपि स कौलः परिकीर्तितः॥

इसी भाव को बताने के लिये मत्स्येंद्रनाथ ने अ कु ल वी र तं त्र में कहा है कि जब तक अकुलवीर रूपी अद्वैत ज्ञान नहीं, तभी तक बालबुद्धि के लोग नाना प्रकार की

जल्पना करते रहते हैं। यह धर्म है, यह शास्त्र है, यह तप है, यह लोक है, यह मार्ग है, यह दान है, यह फल है, यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है, यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, यह साध्य है, यह साधक है यह तत्त्व है, यह ध्यान है—ये सब बालबुद्धि के विकल्प हैं (अ कु ल वी र तं त्र--प ७८--८७)। जिसे यह अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो गया रहता है उसे प्राणायाम, समाधि और ध्यान-धारणा की आवश्यकता नहीं रहती (१७--२०); वह ब्रह्मा शिव, रुद्र, बुद्ध, देवी आदि उपास्यों से अभिन्न होकर स्वयं ध्यान और ध्याता बन जाता है (२६-२८)—वह यज्ञ-उपवास, पूजा-अर्चना, होम, नित्य-नैमित्तिक विधि, पितृकार्य, तीर्थ-यात्रा, धर्म, अधर्म, स्नान, ध्यान सब के अतीत हो जाता है (४३--४६)। और अधिक कहने से क्या लाभ, वह व्यक्ति समस्त द्वंद्वों से रहित हो जाता है—

अथ किं बहुनोक्तेन सर्वद्वन्द्वविवर्जितः।

यही मत्स्यन्दपाद के प्रवर्तित शास्त्र का चरम लक्ष्य है।

६

जालंधरनाथ और कृष्णपाद

—:०:—

(१) साधारण जीवन-परिचय

हमने मत्स्येंद्रनाथ के समय का विचार करते समय देखा है कि उनके समय के निश्चित होने के साथ ही साथ जालंधरनाथ, गोरक्षनाथ और कृष्णपाद या कानिफा का समय भी निश्चित हो जाता है क्योंकि समस्त परंपराएं बताती हैं कि ये समसामयिक थे। उक्त समय हम पहले ही निश्चित कर चुके हैं, इसलिये उस शास्त्रार्थ में फिर से उलझने की यहां जरूरत नहीं है। जालंधरनाथ मत्स्येंद्रनाथ के गुरुभाई थे। तिब्बती परंपरा में मत्स्येंद्रनाथ के गुरु भी माने जाते हैं। उक्त परंपरा के अनुसार नगरभोग देश में (?) ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था। पीछे ये एक अच्छे पंडित-भिक्षु बने किन्तु घंटापाद के शिष्य कूर्मपाद की संगति में आकर ये उनके शिष्य हो गए। मत्स्येंद्रनाथ, कण्हपा (कृष्णपाद) और तंतिपा इनके शिष्यों में थे। भोटिया ग्रन्थों में इन्हें आदिनाथ भी माना जाता है[1]। तनजूर में इनके लिखे हुए सात ग्रंथों का उल्लेख है जिनमें राहुल जी के मतानुसार दो मगही भाषा में लिखे गए हैं। ये दो हैं (१) विमुक्तमंजरीगीत और (२) हुँकारचित्तविंदुभावनाक्रम[1]। डाक्टर कार्डिये ने तनजूर में प्राप्य बौद्ध तंत्रग्रंथों की एक तालिका फ्रेंच भाषा में प्रकाशित की है। उसमें (पृ० ७८ पर) सिद्धाचार्य जालंधरिपाद लिखित एक टिप्पणी ग्रंथ का भी नाम है। सरोरुहपाद के प्रसिद्ध तंत्रग्रंथ हेवज्रसाधन पर टिप्पणीरूप में लिखित इस ग्रंथ का नाम है, शुद्धिवज्रप्रदीप। ये सभी पुस्तकें कायायोग से संबद्ध हैं। प्रसिद्ध है कि ये पंजाब में अधिष्ठित जालंधरपीठ नामक तांत्रिक स्थान में उत्पन्न हुए थे। एक दूसरी परम्परा के अनुसार वे हस्तिनापुर के पुरुवंशी राजा बृहद्रथ के यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुए थे, और इसी लिये इनका नाम ज्वालेंद्रनाथ पड़ा था[2]। इस प्रकार तीन स्थानों को इनकी जन्मभूमि बताया गया है, नगरभोग, हस्तिनापुर और जालंधर पीठ। इनकी जाति के बारे में भी यही विवाद है। तिब्बती परंपरा के अनुसार ये ब्राह्मण थे; बंगाली परंपरा में ये हाड़ी या हलखोर माने गए हैं; योगिसंप्रदायाविष्कृति के अनुसार वे युधिष्ठिर की २३ वीं पुश्त में उत्पन्न पुरुवंशीय राजा बृहद्रथ के पुत्र होने के कारण क्षत्रिय थे।

---

१. गंगा, पुरातत्त्वांक, पृ० २२२-३

२. यो० सं० आ०, पृ० ८१,८७

जालंधर नाम से अनुमान किया जा सकता है कि ये जालंधरपीठ में या तो उत्पन्न हुए थे या सिद्ध हुए थे। हठयोग की पुस्तकों में एक बंध का नाम जालंधरबंध है। बताया जाता है कि जालंधरनाथ के साथ संबद्ध होने के कारण ही यह बंध जालंधरबंध कहा जाता है। इसी प्रकार गोरक्षनाथ, मत्स्येंद्रनाथ के नाम पर भी एक एक बंध पाये जाते हैं। योगशास्त्रीय पुस्तकों में एक और बंध उड्डियानबंध है। यह संभवतः उड्डियानपीठ के किसी सिद्ध द्वारा प्रवर्तित है। गायकवाड़ सीरीज में साधनमाला नामक महत्त्वपूर्ण बौद्ध तांत्रिक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक डा० विनयतोष जी भट्टाचार्य का अनुमान है कि उड्डियान उड़ीसा में या आसाम में कहीं है। डा० बागची ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन दि तंत्र' ज में (३७-४०) इस मत की समीक्षा की है और योग्यतापूर्वक प्रतिपादन किया है कि उड्डियान वस्तुत: स्वात उपत्यका में ही है और वह जालंधरपीठ के कहीं आसपास ही है। जितनी भी परंपराओं का ऊपर उल्लेख है वे सभी जालंधरनाथ का जन्म स्थान पंजाब की ओर ही निर्देश करती हैं। यह असंभव नहीं कि जालंधरनाथ का संबंध उड्डियान और जालंधर दोनों बंधों से हो। हमारे इस प्रकार अनुमान का कारण यह है कि उड्डियान में सचमुच ही ज्वालेन्द्र नामक राजा का उल्लेख मिलता है जो आगे चल कर बहुत बड़े सिद्ध हुए थे। तारानाथ (पृ० ३२५) ने उड्डियान देश के दो भाग बताए हैं, एक का नाम सम्भल है और दूसरे का लंकापुरी। अनेक चीनी और तिब्बती ग्रंथों में इस लंकापुरी की चर्चा आती है।[१] सम्भलपुरी के राजा इन्द्रभूति थे और लंकापुरी के जालेन्द्र। इन्हीं जालेन्द्र के पुत्र से इन्द्रभूति की बहन की शादी हुई थी। शवरतंत्र का संबंध सम्भलपुरी से बताया जाता है। अब इतना निश्चित है कि (१) उड्डियान और जालंधरपीठ पास ही पास हैं। (२) उड्डियान में ही कहीं लंकापुरी है जहां कोई जालेंद्र नामक राजा थे[२] जो सुप्रसिद्ध साधक इन्द्रभूति के बहनोई थे[३] और (३) हठयोग के ग्रंथों में उड्डियानबंध और जालंधरबंध नाम के जो बंध हैं उनका संबंध इन में से किसी एक से या अनेक से होना असंभव नहीं है। यह कहना बड़ा कठिन है कि जालेंद्र राजा ही जालंधर हैं या नहीं।

पौराणिक विश्वास के अनुसार इस जालंधरपीठ में सती के मृत शरीर का—जिसे लेकर उन्मत्तभाव से शिव ताण्डव करने लगे थे—स्तनभाग पतित हुआ था। यह पीठ त्रिगर्त प्रदेश में है जो पंजाब के एक अंश का पुराना नाम है। विश्वास किया

१. स्ट. तं., पृ० ३६

२. राहुल जी ने इंद्रभूति को लंकापुरी का राजा लिखा है (गंगा, पुरा० पृ० २२२)। और उनकी बहन लक्ष्मींकरा को संभल नगर की योगिनी कहा है (पृ० २२४)।

३. उड्डियान और जालंधरपीठ के लिये देखिए - सिनो इंडियन स्टडीज, जिल्द १, भाग १ में डा० पी० सी० बागची का वज्रगर्भतंत्रराजसूत्र: ए निऊ वर्क आफ किंग इंदुबोध — स्टडी ऐंड ट्रान्सलेशन

जाता है कि यहां मरने से कीट-पशु-पतंग सभी मुक्त हो जाते हैं। कहते हैं कि जालंधर दैत्य का बध करने के कारण शिव पापग्रस्त हो गए थे और जब इस पीठ में आकर उन्होंने तारा देवी की उपासना की, तब जाकर उनका पाप दूर हुआ। यहां की अधिष्ठात्री देवी त्रि-शक्ति – अर्थात् त्रिपुरा, काली और तारा हैं। परन्तु स्तनाधिष्ठात्री श्री ब्रजेश्वरी ही मुख्य मानी जाती हैं। इन्हें विद्याराज्ञी भी कहते हैं। स्तनपीठ में विद्याराज्ञी के चक्र तथा आद्या त्रिपुरा की पिण्डी की स्थापना है[1]।

इसमें तो कोई संदेह ही नहीं की जालंधरपीठ किसी ज़माने में वज्रयानी साधना का प्रधान केंद्र था। उसका कोई न कोई चिह्न वहां होना चाहिए। इन दिनों वह विशुद्ध हिंदू तीर्थ है। यहां अम्बिका, जालपा, ज्वालामुखी, आशापूर्णा, चामुण्डा, तारिणी अष्टभुजा आदि अनेक देवियों तथा केदारनाथ, वैद्यनाथ, सिद्धनाथ, महाकाल आदि अनेक शिवस्थान तथा व्यास, मनु जमदग्नि, परशुराम आदि मुनियों के आश्रम हैं। कौन कह सकता है कि ये अनेक वज्रयानी साधकों के ब्राह्मणीकृत रूप नहीं हैं? यह लक्ष्य करने की बात है कि यद्यपि इस पीठ की प्रधान अधिष्ठात्री शक्ति त्रिशक्ति हैं तथापि मुख्य स्तनपीठ की अधिष्ठात्री देवी का नाम ब्रजेश्वरी है। यह ब्रजेश्वरी 'वज्रेश्वरी' का ब्राह्मणीकृत रूप तो नहीं है? विषय अनुसंधेय है। जो हो, जालंधरपीठ के प्राचीन और महत्वपूर्ण होने में कोई सन्देह नहीं हैं। परन्तु वे परंपराएं इतनी विकृत हो गई हैं कि इन पर से किसी ऐतिहासिक तथ्य का खोज निकालना दुष्कर ही है।

जालंधरनाथ-विषयक जितनी भी परंपराएं उपलब्ध हैं उनमें इन्द्रभूति की प्रसिद्ध भगिनी लक्ष्मींकरा के साथ उनके किसी प्रकार के संबंध का कोई इशारा भी नहीं है लक्ष्मींकरा कोई साधारण स्त्री नहीं थीं, उन्हें वज्रयानी परंपरा में बड़े सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। वे चौरासी सिद्धों में एक हैं और 'आचार्या' 'भगवती' 'लक्ष्मी' 'राजकुमारी' 'भट्टारिका' 'महाचार्यश्री' आदि अत्यन्त गौरवपूर्ण विशेषणों से विशिष्ट करके उन्हें याद किया जाता है। तिब्बती अनुवादों में उनके कई ग्रंथ सुरक्षित हैं—प्र ती लो द्‌ यो त न वि ष य प द पं जि का, अ द्व य सि द्धि सा ध न ना म, व्य क्त भा व सि द्धि, स ह ज सि द्धि प द्ध ति ना म, चि त्त क ल्प प रि हा र दृ ष्टि ना म और व ज्र या न च तु र्द श मू ला प त्ति वृ त्ति। इस प्रकार की प्रसिद्ध और गौरवास्पद महिला से यदि जालंधरनाथ का कोई भी रिश्ता होता तो दन्तकथाओं में उसका कोई न कोई उल्लेख अवश्य मिलता। इस प्रकार का कोई उल्लेख न होने से हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि जालेंद्र, ज्वालेंद्र और जालंधर नामों के उच्चारणसाम्य के कारण इनको आपस में बुरी तरह से उलझा दिया गया है। परन्तु यह बात फिर भी जोर देकर के ही कही जा सकती है कि जालंधरनाथ का संबंध जालंधरपीठ से भी था और उड्डियानपीठ से भी।

---

1 क ल्या ण श क्ति अं क में श्री तारानन्द जी तीर्थ के एक लेख के आधार पर दे०, पृ० ६७४

लक्ष्य करने की बात है कि जालंधरनाथ के प्रसिद्ध शिष्य कानफा या कृष्णपाद ने अपने गुरु का नाम 'जालंधरिपा' कहा है। राहुल जी ने उनका मगही हिंदी में लिखित जो पद उद्धृत किया है उसमें उनका नाम 'जालंधरि' लिखा है और आज भी जालंधरनाथ का संप्रदाय 'जालंधरिपा' कहलाता है। 'जालंधरिपा' या 'जालंधरिपाद' शब्द सूचित करता है कि ये जालंधर से संबद्ध अवश्य थे, चाहे जन्म से हों; चाहे सिद्धि प्राप्त करने से। वर्तमान अवस्था में इससे अधिक कुछ कह सकना संभव नहीं है।

जालंधरनाथ के शिष्य थे कृष्णपाद जिन्हें कण्हपा, कान्हूपा, कानपा, कानफा आदि नामों से लोग याद करते हैं। श्री राहुल जी ने तिब्बती परंपरा के आधार पर इन्हें कर्णाटदेशीय ब्राह्मण माना है पर डा० भट्टाचार्य ने इन्हें जुलाहा जाति में उत्पन्न और उड़ियाभाषी लिखा है[1]। शरीर का रंग काला होने से इन्हें 'कृष्णपाद' कहा गया है। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समय में यह एक पंडितभिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी विहार (पहाड़पुर, जिला राजशाही, बंगाल) में रहा करते थे। आगे चल कर सिद्ध जालंधरपाद के शिष्य हो गए, चौरासी सिद्धों में कवित्व और विद्या दोनों दृष्टियों से ये सब से श्रेष्ठ थे। इनके सात शिष्य चौरासी सिद्धों में गिने जाते हैं जिनमें मखला और मेखला नाम की दो योगिनियां भी हैं[2]। इनके बारे में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि इनकी लिखी ५७ पुस्तकें प्राप्त हुई हैं और १२ संकीर्तन के पद पाए गए हैं। तनजूर में इन्हें पंद्रह स्थान पर भारतवासी कहा गया है; केवल एक स्थान पर एक उड़ीसादेशी ब्राह्मण कृष्णपाद का नाम है, ये लेकिन मूलग्रंथकार नहीं बल्कि तर्जुमा करने वाले हैं। असल में कई कृष्णपाद या कृष्णाचार्य हो गए हैं। इनका कहीं महाचार्य, कहीं महासिद्धाचार्य, कहीं उपाध्याय और कहीं मण्डलाचार्य कहकर सम्मानपूर्वक नाम लिया गया है[3]। राहुल जी के कथनानुसार तन-जूर में दर्शन पर छः और तंत्र पर इनके चौहत्तर ग्रंथ मिलते हैं।[4] दर्शनग्रंथों में इन्होंने शान्ति देव के बोधिचर्यावतार पर बोधिचर्यावतारदुरवबोधपदनिर्णय नामक टीका लिखी थी। इनकी भाषा पर से श्री विनयतोष जी भट्टाचार्य इन्हें उड़ियाभाषी[5], हरप्रसाद शास्त्री बंगलाभाषी[6] और राहुल जी मगही (बिहारी) भाषी[7] कहते हैं। राहुल जी ने निम्नलिखित ग्रंथों को मगही भाषा में लिखित बताया है—(१) कान्हपादगीतिका, (२) महाढुण्ढनमूल, (३) वसन्ततिलक, (४) असंबद्धदृष्टि, (५) वज्रगीति और (६) दोहाकोष। बौद्धगान में दोहाकोष संस्कृत टीका सहित छपा है जिसमें बत्तीस दोहे हैं।

१. साधनमाला, द्वितीय भाग, प्रस्तावना पृ० ५३
२. गं गा, पुरातत्त्वांक, पृ० २५४
३. बौ० गा० दो०, पृ० २४
४. गं गा, पृ० २५४
५. साधनमाला (गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़), पृ० ५३
६. बौ० गा० दो०, पृ० २४
७. गं गा, पृ० २५४-५

आगे इन्हीं दोहों और उसकी संस्कृत टीका के आधार पर कान्हूपाद या कृष्णपाद[1] के सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा। साधनमाला में कुरुकुल्ला देवी की साधना के प्रवर्तकों में इन्हें भी माना गया है[2]।

---

१. योगिसंप्रदायाविष्कृति में इन्हीं का नाम करिपानाथ बताया गया है। इस ग्रंथ के अनुसार ब्रह्मा जी जब सरस्वती को देखकर मुग्ध हुए तो अपना स्खलित रेतस् उन्होंने गंगा में छोड़ दिया जो किसी हाथी के कान में प्रवेश कर गया। उसी से हरिद्वार के पास कर्ण या करिपानाथ प्रादुर्भूत हुए (पृ० ६३)

२. परानंदसूत्र : प्रस्तावना पृ०, १०-११

७

जालंधरपाद और कृष्णपाद का कापालिक मत

हमने ऊपर देखा है कि कान्हूपा या कानपा (कृष्णपाद) ने स्वयं अपने को कापालिक कहा है और अपने को जालंधरपाद का शिष्य बताया है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में शैव कापालिकों का वर्णन मिलता है। परन्तु बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेखयोग्य वर्णन नहीं मिलता। भवभूति के मा ल ती मा ध व नामक प्रकरण से पता चलता है कि सौदामिनी नामक बौद्ध भिक्षुणी श्री पर्वत पर कापालिक साधना सीखने गई थी। मा ल ती मा ध व से जान पड़ता है कि यह कापालिक साधना शैव मत की थी। श्री पर्वत उन दिनों का प्रसिद्ध तांत्रिक पीठ था वज्रयान का उत्पत्तिस्थान भी उसे ही समझा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों श्री पर्वत पर शैव, बौद्ध और शाक्त साधानाएँ पास ही पास फल फूल रही थीं। बाणभट्ट ने का दं ब री और ह र्ष च रि त में श्री पर्वत को शाक्त तंत्र का साधनपीठ बताया है। हमारे पास इस समय जालंधरपाद और कृष्णपाद का जो भी साहित्य उपलब्ध है वह सभी वज्रयानियों की मध्यस्थता में प्राप्त हुआ है। यह तो निश्चित ही है कि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालंधर और कानपा दोनों को अपनाया है। इसीलिए यह कह सकना कठिन है कि जिस रूप में यह साहित्य हमें मिलता है वही उसका मूल रूप है या नहीं। किन्तु इस उपलब्ध साहित्य से जिस मत का आभास मिलता है वह निस्संदेह नाथमार्ग का पुरोवर्ती होने योग्य है। यहाँ यह बात उल्लेख योग्य है कि कानिपा संप्रदाय को अब भी पूर्ण रूप से गोरखनाथी संप्रदाय में नहीं माना जाता और उनका प्रवर्तित कहा जाने वाला एक उपसंप्रदाय बामारग (=वाम मार्ग) आज भी जीवित है।

विद्वानों का अनुमान है कि यक्षों की पूजा इस देश के उत्तरी हिस्से में बहुत पूर्व से प्रचलित थी। यक्ष, अप्सरा, गधर्व आदि एक ही श्रेणी के देवयोनि माने गए हैं। इन्हीं यक्षों को वज्रधर समझा जाता था। श्री रमाप्रसाद चंद ने (ज० डि० ले०, जिल्द ४) दिखाया है कि बुद्ध-पूर्व युग में यक्षों का कितना महत्वपूर्ण स्थान था। हमने हिं दी सा हि त्य की भू मि का में दिखाया है कि वरुण, कुबेर और कामदेव वस्तुतः यक्ष देवता हैं। नाना मूर्तियों और उत्कीर्ण चित्रों के आधार पर विद्वानों ने सिद्ध किया है कि धीरे धीरे कुछ यक्ष देवता बौद्ध संप्रदाय के मान्य हो गए।[1] उ पा स क द शा सू त्र में मणिभद्र चैत्य की चर्चा है और सं यु त्त नि का य में मणिभद्र यक्ष का उल्लेख है। आगे चलकर मणिभद्र को बुद्ध का शिष्य बताया गया है। एक और यक्ष

---

१. एन० जी० मजुमदार, ज० डि० ले० : जिल्द ११ सन् १९२४।

वज्रपाणि भी बुद्ध का शिष्य होता है और आगे चलकर बोधिसत्त्व का महत्त्वपूर्ण पद पा जाता है। बही बो धि च र्या व ता र की टीका में (बिब्लि० इंडि०, पृ० ६) वज्री अर्थात् वज्रपाणिबोधिसत्त्व कहा गया है। श्री एन० जी० मजुमदार ने दिखाया है कि यही वज्रपाणिबोधिसत्त्व आगे चलकर उत्तरी भारत के बौद्ध धर्म के महान् उपास्य हो जाते हैं। एसियाटिक सोसायटी में कृ ष्ण य मा रि तं त्र (नं० ९९६४) की पाण्डुलिपि में वज्रपाणि को 'सर्वतथागताधिपति' कहकर स्मरण किया गया है और अ ष्ट सा ह स्रि का प्र ज्ञा पा र मि ता के सत्रहवें अध्याय में (पृ० ३३३) इन्हें 'महा-यक्ष' कहा गया है। त था ग त गु ह्य क में इन्हें 'गुह्यकाधिपति' कहा गया है।[1] इस प्रकार वज्रयानी ग्रंथों में यद्यपि वज्रपाणि महान् देवता हो गये हैं तथापि उनके यक्ष रूप को भुलाया नहीं गया है। पुराने यक्ष-संप्रदाय का क्या रूप था यह स्पष्ट नहीं है। पर इतना निश्चित है कि यक्ष लोग विलासी हुआ करते थे। अप्सराएँ और कामदेव इनके देवता हैं और सुरापान भी इन में प्रचलित था। वरुण तो वारुणी या मदिरा के देवता ही हैं। इनके विलास का एक भीतिजनक रूप 'यक्ष्मा' शब्द से प्रकट होता है। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म में इस संप्रदाय के प्रवेश करने के बाद से वह तांत्रिक रहस्यमयी साधना प्रचलित हुई जिसमें स्त्री-संग और मदिरा की पूरी छूट थी। ल लि त वि स्त र में यक्ष कुल को स्पष्ट रूप से वज्रपाणि का उत्पत्तिस्थल कहा गया है (यक्षकुलम् यत्र वज्रपाणेरुत्पत्तिः)। किस प्रकार यह साधना धीरे धीरे शैव मत को प्रभावित करने में समर्थ हुई यह बात साधना साहित्य के इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझा सकेगी। इतना स्पष्ट है कि वज्रयान के कई देवता शिव के समान हैं।

च र्या च र्य वि नि श्च य की टीका में दारिकपाद का एक श्लोक उद्धृत है जिसका अर्थ और पाठ दोनों ही बहुत स्पष्ट नहीं है। इससे 'कापालिक' शब्द की मूल व्युत्पत्ति का आभास मिल जाता है। प्राणी वज्रधर है, जगत् की स्त्रियाँ कपालवनिता हैं (अर्थात् 'कपालिनी' हैं) और साधक हेरुक भगवान् की मूर्ति है जो उससे अभिन्न हैं।[2] ऐसा जान पड़ता है कि स्त्रीजन-साध्य होने के कारण ही यह साधना कापालिक

---

१. वही।

२. हरप्रसाद शास्त्री का पाठ इस प्रकार है—

"प्राणी वज्रधरः कपाल- वनितातुल्यो जगत् स्त्रीजनः
सोऽहं हेरुक मूर्तिरेष भगवान् यो नः प्रभिन्नोऽपिच।" इत्यादि।

डा० प्रबोध चंद्र बागची महाशय ने मुझे बताया है कि तिब्बती अनुवाद के साथ मिलाने पर उन्हें मालूम हुआ है कि 'नः प्रभिन्नोऽपि च' के स्थान पर "न प्रभिन्नोऽपि च' पाठ होना चाहिए। च र्या च र्य वि नि श्च य में कई स्थान पर (पृ० २०, २३) इस आचार्य का नाम 'दारिकपाद' दिया हुआ है पर डा० बागची महाशय ने मुझे बताया है कि वस्तुतः यह "दारिकी-पाद" होना चाहिए।

कही गई है। साधनमाला के ४६९ वें पृष्ठ पर हेरुक की साधना का उल्लेख है जो बहुत कुछ नटराज शिव से मिलता है।[1] हिन्दू शास्त्रों के अनुसार हेरुक शिव के एक गण का नाम है।

मालतीमाधव में इन कापालिकों का जो प्रसंग है वह इतना पर्याप्त नहीं है कि इस पर से कुछ विस्तृत रूप से इनके विषय में जाना जा सके। दारिकपाद या दारोड़ीपाद बौद्ध वज्रयानी साधक थे। उनके श्लोक से इतना तो स्पष्ट हो होता है कि कापालिक साधना में स्त्री की सहायता आवश्यक थी। आधुनिक नाथमार्ग में वज्रोली नामक जो मुद्रा पाई जाती है उसमें भी स्त्री का होना परम आवश्यक माना गया है। मालतीमाधव का कापालिक अघोरघंट अपनी शिष्या कपालकुण्डला के साथ योग-साधन करता था। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि क्या शैव और क्या बौद्ध दोनों कापालिक साधनाओं में स्त्री की सहायता आवश्यक थी। नीचे हम दोनों प्रकार की साधनाओं का साधारण परिचय देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

मालतीमाधव में कुछ थोड़े से श्लोक हैं जिन पर से इस मत का एक साधारण परिचय मिल जाता है। पंचम अंक के आरंभ में ही कपालकुण्डला शिव की स्तुति करती पाई जाती है। इस श्लोक[2] का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है: 'छः-अधिक-दस नाड़ी-चक्र के मध्य में स्थित है आत्मा जिसकी, जो हृदय में विनिहित-रूप है, जो सिद्धिद है उसे पहचानने वालों का, अविचल चित्त वाले साधक जिसे खोजा करते हैं उन शक्तियों से परिणद्ध शक्तिनाथ की जय हो।' इस श्लोक की ठीक-ठीक व्याख्या क्या है, यह टीकाकार जगद्धर को भी नहीं मालूम था। उन्होंने प्रायः प्रत्येक पद की व्याख्या में दो-तीन संभावित अर्थ बताए हैं। 'शक्तिभिः परिणद्ध' इस शब्दसमूह की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि इसके दो अर्थ संभव हैं। ब्राह्मी-माहेश्वरी-कौमारी-वैष्णवी-वाराही-माहेन्द्री-चामुण्डा-चण्डिका ये आठ शक्तियाँ हैं; इनसे शिव को वेष्टित कहा गया है क्योंकि वे भैरव-मूर्ति हैं। या फिर इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न (क्रिया)-रूप शक्तियों से युक्त शक्तिनाथ शिव। इन दोनों अर्थों के लिये जगद्धर ने कोई प्रमाणवचन नहीं उद्धृत किए। इससे अनुमान होता है कि सामान्य तांत्रिक विश्वासों के आधार पर ही यह व्याख्या की गई है, किसी कापालिक ग्रंथ के आधार पर नहीं। परन्तु यह लक्ष्य करने की बात है कि भवभूति ने 'शक्तिनाथ' शब्द का प्रयोग किया है जो कापालिकों में प्रचलित 'नाथ' शब्द

---

१. साधनाओं में त्रिनयन हेरुक का ध्यान भी दिया हुआ है। एक उल्लेख्य बात यह है कि हेरुक कानों में कुंडल धारण किए हुए बताए गए हैं (साधन० २४४) और २४५ वीं साधना में इस कुण्डल को 'नरास्थि' अर्थात् मनुष्य की हड्डियों से बना हुआ कहा गया है (दे० पृ० ४७५)

२. षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा हृदिविनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः।
अविचलितमनोभिः साधकैर्मृग्यमाणः स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः॥

से उनके परिचय का सबूत है और यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि वे शैव-कापालिकों से अच्छी तरह परिचय रख कर ही अपना नाटक लिख रहे थे। 'षडधिकदश' या 'छ-अधिक-दस' नाड़ीचक्र भी टीकाकार के लिये वैसी ही समस्या रहे हैं। इस शब्द के उन्होंने तीन अर्थ किए हैं। प्रथम और प्रधान अर्थ यह है: कान-नाभि हृदय-कंठ-तालु और भ्रू के मध्यवर्ती छः ऐसे स्थान हैं जहाँ अनेक नाड़ियों का संघट्ट या सम्मिलन है। ये संघट्ट-स्थान हृदय आदि में अधिष्ठित प्राण विशेष के चलन योग से बने हुए चक्रों की भांति हैं और इन स्थानों पर शिव और शक्ति का मिलन होता है। सब मिला कर १०१ नाड़ियाँ ऊपर नीचे और दायें बायें छितराई हुई हैं उनमें अधिक प्रधान दस हैं—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अरुणा, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी[1]। इनके समूह में हृदय-पद्म के बीच सूक्ष्म आकाश देश में—जो प्राणादि का आधार है—शिवस्वरूप कूटस्थ आत्मा स्थित है। यद्यपि यह सिर से लेकर पैर तक समस्त स्थानों को व्याप्त करके विराजमान है तथापि इसका मुख्य स्थान हृदयपंकज ही है।[2] दूसरा अर्थ यह है: सोलह नाड़ियों के चक्र में स्थित है आत्मा जिसकी। टीकाकार ने सोलह नाड़ियों का न[3] तो कोई ग्रंथान्तरलभ्य प्रमाण ही दिया है और न नाम ही बताए हैं। केवल 'सर्वं शिवमयं मतम्' कहकर इस प्रसंग को समाप्त कर दिया है। तीसरा अर्थ है, छः अधिक-दस नाड़ी चक्र। परन्तु इस श्लोक से इतना स्पष्ट प्रतिपन्न होता है कि (१) भवभूति का जाना हुआ कापालिक मत परवर्ती नाथपंथियों के समान नाड़ियों और चक्रों में विश्वास करता था, (२) शिव और जीव की अभिन्नता में आस्था रखता था (३) योग द्वारा चित्त के चाञ्चल्य को रोकने से ही कैवल्य रूप में अवस्थित शिवरूप आत्मा का साक्षात्कार होता है, ऐसा मानता था और (४) शक्तियुक्त शिव की प्रभविष्णुता में ही विश्वास रखता था।

इसके बाद वाले श्लोक से[4] पता चलता है कि कपालकुण्डला ने जो साधना की थी उसमें नाड़ियों के उदयक्रम से पंचामृत का आकर्षण किया था और इसके फलस्वरूप अनायास ही आकाशमार्ग से विचरण कर सकती थी। टीकाकार ने 'पंचामृत' शब्द के भी अनेक अर्थ किए हैं। प्रथम अर्थ है क्षिति-अप् आदि

---

१. सि० सि० सं० ६३-६५ से तुलनीय।

२. आशिखश्चरणं देहं यद्यपि व्याप्य तिष्ठति।
तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पङ्कजमुदाहृतम्॥

३. कापालिक सिद्ध कृष्णपाद (कानिपा) के पदों की टीका में नाड़ियों की संख्या बत्तीस बताई गई है (बौ० गा० दो० पृ० २१) और कहा गया है कि इनमें अवधूतिका प्रधान है।

४. नित्यं न्यस्तषडङ्गचक्रनिहितं हृत्पद्ममध्योदितम्।
पश्यन्ती शिवरूपिणं लयवशादात्मानमभ्यागता॥
नाडीनामुदयक्रमेण जगतः पञ्चामृताकर्षणात्।
अप्राप्तोत्पतनश्रमा विघटयन्त्यग्रे नभोऽम्भोमुचः॥

पांच तत्व; दूसरा अर्थ है बिंदुस्थान से कुण्डलिनी के स्रावण से झरता हुआ रस विशेष या फिर रसना के नीचे से स्थित रंध्र से झरने वाला रस विशेष। व्यापक होने से उसे 'पंच' संख्या से सूचित किया गया है (!); तीसरा अर्थ है : जगत् के शरीर के पाँच अमृत जो शिवशक्त्यात्मक हैं। ये हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। लेकिन 'पञ्चामृत' का जो असली अर्थ है उसे टीकाकार ने दिया ही नहीं। ये पंचअमृत शरीर-स्थित पाँच द्रवरस हैं—शुक्र, शोणित, मेद, मज्जा और मूत्र। इनको आकर्षण करके ऊपर उठाने की क्रिया से शरीर को वज्रवत् बनाया जा सकता है, अणिमादिक सिद्धियाँ पाई जा सकती हैं। वज्रयानी साधकों में तथा कौलमार्गी तांत्रिकों में भी यह विधि है। नाथमार्ग में जो वज्रोली साधना है उसे इस साधना का भग्नावशेष समझना चाहिए।

ऐसा जान पड़ता है कि अन्यान्य तांत्रिकों की भाँति, कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परमशिव ज्ञेय हैं, उपास्य हैं उनकी शक्ति और तद्युक्त अपर या सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवीभागवत में कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शव के समान (अर्थात् निष्क्रिय) हैं— शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।' और इसी भाव को ध्यान में रख कर शंकराचार्य ने सौन्दर्य लहरी में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हों तभी कुछ करने में समर्थ हैं नहीं तो वे हिल भी नहीं सकते—

> शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवतिशक्तः प्रभवितुं।
> न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

तांत्रिक लोगों का मत है कि परमशिव के न रूप है न गुण, और इसीलिये उनका स्वरूप-लक्षण नहीं बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे उससे भिन्न हैं और केवल 'नेति नेति' अर्थात् 'यह भी नहीं, वह भी नहीं' ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव (पर-शिव) केवल जाने जा सकते हैं; उपासना के विषय नहीं हैं। शिव केवल ज्ञेय हैं। उपास्य तो शक्ति हैं। इस शक्ति की उपासना के बहाने भवभूति ने कापालिकों के मुख से शक्ति के क्रीड़न और ताण्डव का बड़ा शक्तिशाली वर्णन किया है।[1] शक्तियों से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा वर्णन करने के कारण यह अनुमान असंगत नहीं जान पड़ता कि कापालिक लोग भी परमशिव को निष्क्रिय-निरञ्जन होने के कारण केवल ज्ञान मात्र का विषय (ज्ञेय) समझते हों।

वस्तुतः दसवीं शताब्दी के आसपास लिखी हुई एक दो और पुस्तकों में भी शैव कापालिकों का जो वर्णन मिलता है वह ऊपर की बातों को पुष्ट ही करता है। प्रबोधचंद्रोदय नामक नाटक में सोमसिद्धान्त नामक कापालिक का वर्णन है।

---

१. सावष्टम्भ निशुम्भ संभ्रमनमद्भूगोलनिष्पीडन—
न्यञ्चत्कर्परकूर्मकम्प विगलद्ब्रह्माण्डखण्डस्थिति।
पाताल प्रतिमल्लगल्लविवरप्रक्षिप्त सप्तार्णवं
वन्दे नन्दित नीलकंठपरिषद् व्यक्तर्द्धिवः क्रीडितम्॥ ५।२२

वह मनुष्य की अस्थियों की माला धारण किए था, स्मशान में वास करता था और नरकपाल में भोजन किया करता था। योगांजन से शुद्ध दृष्टि से वह कापालिक जगत् को परस्पर भिन्न देखते हुए भी ईश्वर (=शिव) से अभिन्न देखा करता था[1]। प्र बो ध चं द्रो द य की चं द्रि का नामक व्याख्या में 'सोम-सिद्धान्त' नाम का अर्थ समझाया गया है। सोम का अर्थ है उमा-सहित (शिव)। जो व्यक्ति विश्वास करता है कि शिव जिस प्रकार नित्य उमा-सहित कैलास में विहार करते हैं उसी प्रकार कान्ता के साथ विहार करना ही परम मुक्ति है वही सोम-सिद्धान्ती है। स्त्री के साथ विहार करने के सिवा इन लोगों के मत में अन्य कोई सुख है ही नहीं। सदाशिव जब प्रसन्न होते हैं तो ऐसे सुख को दुःख अभिभूत नहीं करता अतएव वह नित्यसुख कहा जाता है[2]। प्र बो ध चं द्रो द य से यह भी पता चलता है कि ये लोग चर्बी, आँत आदि सहित मनुष्य के मांस की आहुति देते थे, नरकपाल के पात्र में सुरा-पान करते थे, ताजे मानव-रक्त के उपहार से महाभैरव की पूजा किया करते थे[3] और सदा कपालिनी (=कपाल-वनिता) के साथ रहा करते थे। मदिरा को ये लोग 'पशुपाश-समुच्छेद-कारण' अर्थात् जीव के भवबंधन को काटनेवाला समझते थे।

इसी प्रकार राजशेखर कवि की लिखी हुई क र्पू र मं ज री में भैरवानन्द नामक कापालिक की चर्चा है। ये अपने को 'कुलमार्ग लग्न' या कौल सिद्ध कहते थे। प्र बो ध चं द्रो द य के कापालिक को भी 'कुलाचार्य' कह कर संबोधन किया गया है। क र्पू र मं ज री के कापालिक ने बताया है कि कुलमार्ग के साधक को न मंत्र की जरूरत है, न तंत्र की, न ज्ञान की, न ध्यान की यहाँ तक कि गुरुप्रसाद की भी जरूरत नहीं है।

---

१. नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः
        स्मशानवासी नृकपालभूषणः।
   पश्यामि योगांजनशुद्धचक्षुषा
        जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात्। ३ १२

२. तत्र स्त्री-संभोगादि व्यतिरेकेण सुखान्तरं नास्ति। सदा शिवप्रसाद महिम्ना तादृशसुखस्य दुःखानभिभूतत्वान्नित्यसुखत्वम्। इति सोम-सिद्धान्त रहस्यम्।

३. मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतिर्जुह्वतां
   वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा।
   सद्यः कृत्तकठोरकंठविगलत् कीलालधारोज्ज्वलै—
   रर्च्यो नः पुरुषोपहार-बलिभिर्देवो महाभैरवः।

वे मद्यपान करते हैं। स्त्रियों के साथ विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं[1]! इस में कोई संदेह नहीं कि नाटककार ने इनके मत को जैसा समझा था वैसा ही चित्रित किया है। इन चित्रणों को हमें उचित सतर्कता के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। कापालिकों के संबंध में जनसाधारण की जैसी धारणा थी उसी का चित्र इन नाटकों में मिलता है। सर्वत्र ये कापालिक शैव साधक समझे गये हैं। इसी प्रकार पुष्पदन्त विरचित महापुराण में अनेक स्थलों पर कापालिकों और कौलाचार्यों का उल्लेख है। सर्वत्र उन्हें शैव योगी माना गया है और सर्वत्र उनके मद्यपान का उल्लेख है।

जालंधरपाद का कहा जाने वाला एक अपभ्रंश पद राहुल जी को नेपाल में मिला है। यद्यपि इसकी भाषा 'बिलकुल बिगड़ी हुई है' तथापि इस पद से उनके मत के विषय में एक धारणा बनाई जा सकती है। यद्यपि जालंधरपाद अक्षयनिरंजन-निरालंब शून्य को नमस्कार कर रहे हैं और यह लग सकता है कि वे बौद्ध लोगों की भांति एक अनिर्वचनीय 'शून्य' को अपना उपास्य मानते हैं तथापि इस अस्पष्ट पद से भी यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि वे सरहपाद के 'महासुख' नामक 'सन' आनन्द को ही चरम प्राप्तव्य मानते हैं। एक ऐसा समय गया है जब सहजयानी और वज्रयानी साधक शून्य को निषेधात्मक न मानकर विध्यात्मक या धनात्मक रूप में समझने लगे थे। इसी भाव के बताने के लिये वे 'सुखराज' या 'महासुख' शब्द का व्यवहार करते थे। ये साधक चार प्रकार के आनन्द मानते थे, प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। अन्तिम और श्रेष्ठ आनन्द सहजानन्द है। यही सुखराज है, यही महासुख है, इसे किसी शब्द से नहीं समझाया जा सकता। यह अनुभवैकगम्य है। इसमें इन्द्रिय

---

१. मन्तो ण तन्तो ण अ किं पि जाणे
 झाणं च णो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिबामो महिलं रमामो
 मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा॥
रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा
 मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा
 कोलो धम्मो कस्स णो भोदि रम्मो॥
मुत्तिं भणन्ति हरिब्रह्ममुखादि देवा
 झाणेण वेअपठणेण कदुक्कियाए।
एक्केण केवलमुमादइएण दिट्ठो
 मोक्खो समं सुरअकेलि सुरारसेहिं॥

कर्पूर मंजरी १।२२—२४

बोध लुप्त हो जाता है, आत्मभाव या अस्मिता विलुप्त हो जाती है, 'केवल' रूप में अवस्थिति होती है। सरहपाद ने इसी भाव को बताने के लिये कहा है—

इन्दिअ जत्थ विलअ गउ
णट्ठिउ अप्प सहावा।
सो हले सहजन तनु फुड
पुच्छहि गुरु पावा।

इतना वे लोग भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान बुद्धदेव ने इस शब्द का कभी प्रयोग नहीं किया और इस भाव की प्रज्ञप्ति के लिये कुछ भी नहीं कहा। परन्तु साथ ही, वे बुद्धदेव के मौन को अपने पक्ष की पुष्टि में ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुखराज के विषय में जो मौन रह गए, वह इसलिये कि यह वाणी से परे था—'जय हो इस कारणरहित सुखराज की जो जगत् के नाशमान चंचल पदार्थों में एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञ भगवान बुद्ध को भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ा था।'

जयति सुखराज एष कारणरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥

—नड़पाद की सेकोद्देश की टीका में सरहपाद का वचन
(पृ० ६३)

सो, यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है, क्योंकि इसका न आदि है न अन्त है न मध्य है, न इसमें अपने का ज्ञान रहता है न पराये का। न यह जन्म है न मोक्ष; न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराज को सरहपाद ने इस प्रकार कहा है—

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ,
णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह,
णउ पर णउ अप्पाण॥

—ज० डि० ले०, पृ० १३

हमने पहले ही देखा है कि जालंधरपाद ने सरहपाद के ग्रंथ पर एक टिप्पणी लिखी थी, इसलिये उनके ऊपर सरहपाद के विचारों का प्रभाव होना बिलकुल स्वाभाविक है। राहुलजी ने नेपाल के बौद्धों में प्रचलित चर्यागीति नामक पुस्तक से जो पद संग्रह किया है वह स्पष्ट रूप से सरहपाद के बताए हुए उक्त मत का समर्थन करता है। वे चतुरानंद (चार प्रकार के आनन्द) की बात कहकर बताते हैं कि परमानंद और विरमानंद के बीच ही जो आनंद (=सहजानंद) उत्पन्न नहीं हो जाता, जो सब के ऊर्ध्व में और सबके अतीत है वह 'महासुख' है। जालंधरपाद ने उस महासुख को अनुभव किया था—

आनंद परमानंद विरमा, चतुरानंद जे संभवा।
परमा विरमा माझे न छाड़िरे महासुख सुगत संप्रदप्रापिता॥

—गं गा, पु०, पृ० २५३

यह महासुख शैव तांत्रिकों के सहजानंद के बहुत नजदीक है। इसलिये आश्चर्य नहीं कि जालंधरपाद को परवर्ती साहित्य में शैव सिद्ध मान लिया गया है।

वर्तमान अवस्था में उनके मत के विषय में इससे कुछ अधिक कह सकना संभव नहीं है परन्तु उनके शिष्य कृष्णपाद के मत के विषय में कुछ अधिक कह सकना संभव है। उनके कई पद और दोहे प्राप्त हुए हैं और उन पर संस्कृत टीका भी उपलब्ध हुई है। संक्षेप में, आगे उनके मत का सार सङ्कलन किया जा रहा है। यहाँ इतना कह रखना उचित है कि म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ने सिद्धान्तवाक्य से गोपीचंद्र और जालंधरनाथ का जो संवाद उद्धृत किया है[1] वह बहुत परवर्ती जान पड़ता है। वस्तुतः वह अपभ्रंश से या पुरानी हिंदी से संस्कृत में रूपान्तरित जान पड़ता है। हम आगे गोरषबोध के प्रसङ्ग में उस पर विचार करेंगे।

कान्हूपाद या कृष्णपाद (कानिपा) के दोहों का एक संग्रह दोहाकोष नाम से श्री हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया है। उस पर मेखला[2] नामक संस्कृत टीका भी मिली है। इनको फिर से तिब्बती अनुवाद से मिलाकर डा० बागची ने सम्पादन किया है। इन दोहों के अतिरिक्त चर्याचर्यविनिश्चय में संस्कृत टीका के साथ उनके कई पद भी छपे हैं। इन्हीं सब के आधार पर नीचे का सङ्कलन प्रकाशित किया जा रहा है।

कृष्णपाद मानते थे कि इस शरीर में ही चरम प्राप्तव्य की प्राप्ति होती है। शरीर का जो मेरुदण्ड है वही कंकाल-दण्ड कहा जाता है, इसे ही मेरु पर्वत कहते हैं क्योंकि श्री सम्पुटतन्त्र में कहा गया है कि पैरों के तलवे में भैरवरूप धनुषाकार वायु का स्थान है, कटिदेश में त्रिकोण उद्धरण है जिसके तीन दलों पर वर्तुलाकार वरुण का वास है और हृदय में पृथ्वी है जो चतुरस्र भाव से सब ओर व्याप्त है। इसी प्रकार कंकाल-दण्ड के रूप में गिरिराज सुमेरु स्थित है[3]। इसी गिरिराज के कन्दर कुहर में नैरात्म धातु जगत् उत्पन्न होता है। इसी गिरिकुहर में स्थित पद्म में यदि बोधिचित्त पतित होता है तो कालाग्नि का प्रवेश होता है और सिद्धि में बाधा पड़ती है?[4] क्योंकि शुक्र

---

१. स० भ० स्ट० जिल्द ६ : पृ० २७

२. कृष्णपाद की एक शिष्या का नाम भी मेखला था। यह अनुमान किया जा सकता है कि टीका उन्हीं की लिखी हो। मेखला वज्रयान-संप्रदाय में बहुत गौरव का पात्र मानी जाती हैं, वे चौरासी सिद्धों में एक हैं। वर्णरत्नाकर में मेखला नाम से जिस नाथ सिद्ध का उल्लेख है वे यही हैं।

३. स्थितः पादतले वायुर्भैरवोधनुराकृतिः।
स्थितोऽस्ति कटिदेशे तु त्रिकोणोद्धरणस्तथा॥
वर्तुलाकाररूपो हि वरुणस्त्रिदले स्थितः॥
हृदये पृथिवी चैव चतुरस्रा समन्ततः।
कंकालदंडरूपो हि सुमेरुर्गिरिराट् तथा॥

४. वर गिरि कन्दर कुहिर जगु तहि सअल विसत्थइ।
विमल सलिल सोसजाइ कालाग्नि पइठइ॥ १४॥
—बौ० गा० दो०, पृ० १२७

सिद्धि नामक ग्रंथ में स्पष्ट ही लिखा है कि यदि सर्वसिद्धि का निधान बोधिचित्त (=शुक्र, नाथ पंथियों का बिंदु) नीचे की ओर पतित हो और स्कंधविज्ञान मूर्च्छित हो जाय तो उत्तम सिद्धि कहाँ से प्राप्त हो सकती है ?[1]

यहाँ यह समझ रखने की जरूरत है कि समस्त बौद्ध वज्रयानी और सहजयानी साधक मानते हैं कि दो प्रकार के सत्य होते हैं (१) लोकसंवृति-सत्य अर्थात् लौकिक सत्य और पारमार्थिक सत्य अर्थात् वास्तविक सत्य लोक में बोधिचित्त का अर्थ स्थूल शारीरिक शुक्र है जब कि पारमार्थिक सत्य में वह ज्ञानरूप चित्त है। इसी प्रकार पद्म और वज्र के सांवृतिक अर्थ स्त्री और पुरुष के जननेन्द्रिय हैं परन्तु पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक अर्थ आध्यात्मिक हैं जो आगे स्पष्ट होंगे। कृष्णाचार्यपाद के एक पद की टीका में टीकाकार ने बताया है कि जो लोग गुरु संप्रदाय के अन्दर नहीं हैं वे लोग सांवृतिक (व्यावहारिक) अर्थ लेकर शरीर रूप कमल के मूलभूत बोधिचित्त को 'शुक्र' समझते हैं।[2] कृष्णाचार्यपाद ने इस वृत्ति को मार डालने का सङ्कल्प प्रकट किया था। स्कंध विज्ञान के मूर्छित होने का क्या अर्थ है, यह समझना जरूरी है। इसीलिये इसके विकास पर एक सरसरी निगाह दौड़ाकर हम आगे बढ़ेंगे।

किस प्रकार यह तांत्रिक प्रवृत्ति बौद्ध मार्ग में प्रविष्ट हुई थी, इसका इतिहास बहुत मनोरंजक है। इस विषय में भदन्त शान्तिभिक्षु ने विश्वभारती पत्रिका में एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। अनुसंधित्सु पाठकों को वह लेख (वि० भा० प०, खंड ४, अंक १) पढ़ना चाहिए। यहाँ प्रकृत विषय से संबद्ध कुछ तथ्यों का संकलन किया जा रहा है, इससे परवर्ती प्रसंग स्पष्ट होगा। जो साधक साधनामार्ग में अग्रसर होने की इच्छा रखता है उसके लिये चित्त को वश में करना परम आवश्यक है। इस चित्त में यदि कामनाओं के उपभोग न करने का कारण क्षोभ हुआ तो साधना मिट्टी में मिल जायगी। यही सोचकर अनङ्गवज्र ने कहा था कि इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए जिस से चित्त क्षुभित न हो। यदि चित्तरत्न संक्षुब्ध हो गया तो कभी सिद्धि नहीं मिल सकती।[3] फिर यह विक्षोभ दमन कैसे किया जाय? वासनाएँ दबाने से मरती नहीं अपितु और भी अन्तस्तल में जाकर छिप जाती हैं। अवसर पाते ही वे उद्बुद्ध हो जाती हैं और साधक को दबोच लेती हैं। इसी लिये उनको दबाना ठीक नहीं। उचित पंथा यह है कि समस्त कामनाओं का उपभोग किया जाय तभी शीघ्र चित्त का संक्षोभ दूर होगा और सच्ची सिद्धि प्राप्त होगी।[4] इस प्रकार कामोपभोग का साधना-क्षेत्र में प्रवेश हुआ। इस साधना की

---

१. पतिते बोधिचित्ते तु सर्वसिद्धिनिधानके।
मूर्छिते स्कंधविज्ञाने कुतः सिद्धिरनिन्दिता॥

२. गुरुसंप्रदायविरहितस्य सैव डोम्बिनी प्रपञ्चशुद्धावधूतिका मनोवरं कायपुष्करं तन्मूल तदेव बोधिचित्तं संवृत्या शुक्ररूपं मारयामि। —बौ० गा० दो०, पृ० २१

३. तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन॥

४. दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्ध्यति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति॥

पृष्ठभूमि में शून्यवाद था। शून्यता और समस्त अभावों और अभावों से मुक्त निःस्वभावता ही साधक का चरम लक्ष्य है। कामनाओं के उपभोग के लिये स्त्री की आवश्यकता है इसीलिए वज्रयान में पाँच बुद्धों और अनेक बोधिसत्त्वों की शक्ति कल्पना की गई है। सिद्धिप्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है, इसलिये जो बुद्ध सिद्ध हो गए हैं उनके भी गुरु हैं यह गुरु शून्यता ही है। जैसे गुड़ का धर्म माधुर्य है, और अग्नि का धर्म उष्णता है उसी प्रकार समस्त धर्मों का धर्म—समस्त स्वभावों का स्वभाव शून्यता है।[1] शून्यता का मूर्त रूप ही वज्रसत्व है। वज्रसत्व वज्रधर, वज्रपाणि, तथागत सभी शून्य के नाम हैं, यही वज्रधर समस्त बुद्धों के गुरु हैं।

बौद्ध दर्शन में समस्त पदार्थों को पाँच स्कंधों में विभक्त किया गया है—रूप स्कंध, वेदना स्कंध, संज्ञा स्कंध, संस्कार स्कंध और विज्ञान स्कंध। इस शरीर में भी ये ही पांच तत्त्व हैं और पांचों बुद्ध—वैरोचन, रत्नसंभव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य इन्हीं पांच स्कंधों के विग्रह हैं। इन बुद्धों की पाँच शक्तियां हैं, और नाना भांति के, चिह्न, रंग, वर्ण, कुल आदि हैं इस प्रकार समस्त बुद्धों की आश्रयभूमि जिस प्रकार समस्त विश्वब्रह्माण्ड है उसी प्रकार यह शरीर भी है। इसीलिये शरीर की साधना परम आवश्यक है। काया-साधना से शून्यता रूप परम प्राप्तव्य प्राप्त किया जा सकता है। समस्त बुद्धों और उनकी शक्तियों की आवासभूमि यह शरीर है। नीचे भदन्त शान्तिभिक्षु के लेख से एक कोष्ठक उद्धृत किया जा रहा है जिससे बुद्ध, उनकी शक्तियाँ, रंग, रूप, चिह्न और कुल आदि का परिचय हो जायगा। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह साधना नाथ-साधना का या तो पूर्वरूप है, या उससे अत्यधिक संबद्ध है।

पंच स्कंध	पंच तथागत या ध्यानी बुद्ध	रंग	वर्ण	चिह्न	पाँच कुल	शक्तियाँ	शक्तियों के दूसरे नाम	तत्त्व	रंग (तत्त्वों के)	चिह्न
रूप	वैरोचन	शुक्ल	कवर्ग	शुक्ल चक्र	मोह	मोहरति	लोचना	पृथ्वी	शुक्ल	चक्र
वेदना	रत्नसंभव	पीत	टवर्ग	रत्न	ईर्ष्या	ईर्ष्यारति	तारा	वायु	श्याम	नील कमल
संज्ञा	अमिताभ	रक्त	तवर्ग	पद्म	राग	रागरति	पाण्डरवासिनी	तेज	रक्त	पद्म
संस्कार	अमोघसिद्धि	श्याम	पवर्ग	वज्र	वज्र	वज्ररति	...	...	...	
विज्ञान	अक्षोभ्य	कृष्ण	चवर्ग	कृष्ण-वज्र	द्वेष	द्वेषरति	मामकी	जल	कृष्ण	कृष्ण वज्र
शून्यता	वज्रसत्त्व	शुक्ल	अन्तस्थ	वज्रघंटा			प्रज्ञापारमिता			

१. गुडे मधुरता चाग्नेरुष्णत्वं प्रकृतिर्यथा।
शून्यता सर्वधर्माणां तथा प्रकृतिरिष्यते॥

अब इस मानव शरीर का प्रधान आधार उसकी रीढ़ या मेरुदण्ड है। सो, इस मेरुदण्ड के भीतर तीन नाड़ियों से होता हुआ प्राणवायु संचरित होता है। बाईं नासिका से ललना और दाहिनी नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियाँ चलती हैं (नाथ-पंथियों की इड़ा-पिंगला से तुलनीय) जिनमें पहली प्रज्ञा-चंद्र है और दूसरी उपाय सूर्य। प्रज्ञा और उपाय नाथ-पंथियों की इच्छा और क्रिया शक्ति की समशील हैं। मध्यवर्ती नाड़ी अवधूती है जो नाथपंथियों की सुषुम्णा की समशीला है. इस नाड़ी से जब प्राणवायु ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान नहीं रहता इसीलिये अवधूती नाड़ी को ग्राह्यग्राहकवर्जिता कहा जाता है[1]। मेरुगिरि के शिखर पर महासुख का आवास है जहाँ एक चौंसठ दलों का कमल है। यह कमल चार मृणालों पर स्थित है, प्रत्येक मृणाल के चार क्रम हैं और प्रत्येक क्रम के चार चार दल हैं—इस प्रकार यह (४×४×४) चौंसठ दलों का कमल (पद्म) है जहाँ वज्रधर (योगी) इस पद्म का आनन्द उसी प्रकार लेता है जिस प्रकार भ्रमर प्रफुल्ल कुसुम का[2]। इन चार मृणालों के दलों को शून्य, अतिशून्य, महाशून्य, और सर्वशून्य नाम दिया गया है। जो सर्वशून्य का आवास है उसी का नाम उष्णीषकमल है, यहीं डाकिनी जालात्मक जालंधर गिरि नामक महामेरुगिरि का शिखर है, यहीं महासुख का आवास है।[3] इसी गिरि शिखर पर पहुँचने पर योगी स्वयं वज्रधर कहा जाता है, यहीं वह सहजानन्द रूप महासुख को अनुभव करता है[4]।

ऊपर जो चार प्रकार के आनन्द बताए गए हैं उनमें प्रथम आनन्द कायात्मक है अर्थात् शारीरिक आनन्द है, दूसरे और तीसरे वाचात्मक और मानसात्मक हैं। अन्तिम आनन्द ज्ञानात्मक है और इसीलिये सहजानन्द कहा जाता है। इसी आनन्द में महासुख की अनुभूति होती है।

---

१. हेवज्र में सरोरुहपाद ने कहा है —

ललना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपायसंस्थिता।
अवधूती मध्यदेशेतु ग्राह्यग्राहकवर्जिता॥

२. ललना रसना रवि शशि तुडिआ वेनवि पासे।
चउदत्तर चउक्कम चउमृणाल ठिअ महासुहवासे॥ ५॥
एवंकार बीअ लइअ कुसुमिअ अरविन्दए।
महुअरउ सुरअवीर जिंघइ मअरन्दए॥ ६॥

—बौ० गा० दो०, पृ० १२४

३. शून्यातिशून्यमहाशून्यसर्वशून्यमिति चतुःशून्य स्वरूपेण दलचतुष्टयं चतुरादि स्वरूपेण चतुर्मृणालसंस्थिता। कुत्रेत्याह। महासुखं वसत्यस्मिन्निति महासुखवासे उष्णीषकमलं तत्र सर्वशून्य लग्नो डाकिनी जालात्मकं जालंधराभिधानं मेरोः शिखरमित्यर्थः

— वही, पृ० १२४

४. एहु सो गिरिवर कहिअ मइं एहु सो महासुह ठाव।
एक्कु रे निसण्ण सहज खणुन लब्भइ महासुह जाव॥ २५॥

यह लक्ष्य करने की बात है कि इस समय भी नाथमार्ग में विशेष विशेष चक्रों के नाम जालंधर और उड्डियानपीठ हैं। परन्तु गोरक्षनाथ के मत में जालंधरपीठवाला चक्र अन्तिम चक्र नहीं है। आधुनिक नाथपंथियों के षट्चक्रों में जो पाँचवाँ विशुद्ध चक्र है वह सोलह दलों का माना गया है। इसके स्फटिक वर्ण की कर्णिका में वर्तुलाकार आकाशमण्डल है जिसमें निष्कलंक पूर्ण चन्द्रमा है इसी के पार्श्व में शाकिनी सहित सदाशिव हैं। यह जालंधरपीठ कहलाता है।[१] छठा आज्ञाचक्र है। इसके दो दल हैं और कर्णिका में हाकिनी-सहित शिव हैं। इसीको उड्डियान भी कहते हैं।[२] कृष्णपाद ने डाकिनी-युगलात्मक जालंधर पीठ की बात कही है। इन दिनों तांत्रिकों और नाथमार्गियों के विश्वासानुसार डाकिनी से अध्युषित चक्र मूलाधार है जो बिल्कुल प्रथम चक्र है।[३] इस प्रकार परवर्ती विश्वास कृष्णाचार्यपाद के सिद्धान्तों को और भी आगे बढ़ाकर बनाया हुआ जान पड़ता है। उन दिनों बौद्ध साधक भी शिव को उपास्य मानते थे, इसका प्रमाण भी पुराने ग्रंथों से मिल सकता है।[४]

अवधूती नाड़ी डोम्बिनी या डोमिन है और चंचल चित्त ही ब्राह्मण है। डोमिन से छू जाने के भय से यह अभागा ब्राह्मण भागा भागा फिरता है। विषयों का जंजाल मानो एक नगर है और अवधूती रूपी डोमिन इस नगर से बाहर रहती है। जब कृष्णपाद ने गाया है कि हे डोमिन तुम्हारी कुटिया नगर के बाहर है, छुआछून से ब्राह्मण भागा फिरता है तो उनका तात्पर्य उसी अवधूती वृत्ति से है। वे कहते हैं कि 'डोमिन, तुम चाहे नगर के बाहर हो रहो पर निर्घृण कापालिक कान्ह (कानपा) तुम्हें छोड़ेगा नहीं, वह तुम्हारे साथ ही संग करेगा।' जब वे कहते हैं कि चौसठ

१—२. गो० प०: पृ० १२

३. वसेदत्र देवीच डाकिन्यभिख्या
लसद्बाहुवेदोज्ज्वला रक्तनेत्रा।
समानोदितानेक सूर्यप्रकाशा
प्रकाशं वहन्ती सदाशुद्धबुद्धेः ॥

—षट्चक्रनिरूपण—७

४. मालतीमाधव की बौद्धसाधिका सौदामिनी आकाशपथ से विचरण करती जब उस स्थान पर आती हैं, जहाँ मधुमती और सिंधु नदी के संगम पर भगवान् भवानीपति का 'अपौरुषेय-प्रतिष्ठ' विग्रह सुवर्णबिंदु है, तो भक्तिपूर्वक शिवको प्रणाम करती हैं:—

"अयं च मधुमतीसिंधुसंभेदपावनो भगवान् भवानीपतिरपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्णबिंदुरित्याख्यायते। (प्रणम्य)

जय देव भुवनभावन जय भगवन्नखिलवरद-निगमनिधे।
जय रुचिरचंद्रशेखर जय मदनान्तक जयादिगुरो।"

—मा० मा० ६।९

पंखड़ियों के दल पर डोमिन नाच रही है[1] तो उनका मतलब उसी महा मेरुगिरि के जालंधर नामक शिखर पर स्थित उष्णीषकमल से है। इसी प्रकार जब वह कहते हैं कि मंत्र तंत्र करना बेकार है केवल अपनी घरनी को लेकर मौज करो तो,[2] उनका मतलब इसी अवधूती के साथ विहार करने का होता है।

एक बार प्राण वायु का निरोध करके यदि योगी इस मेरु शिखर पर वास कर सका तो निस्तरंग सरोवर की भाँति उसकी वृत्तियों के रुद्ध हो जाने से वह सहज-स्वरूप को प्राप्त होता है। सहजरूप अर्थात् पाप और पुण्य—विराग और राग—दोनों से रहित, दोनों के अतीत। श्रीमद् आदि बुद्ध ने कहा भी है कि विराग से बढ़कर पाप नहीं है, और राग से बढ़कर पुण्य नहीं[3] सो कृष्णपाद ने परमतत्त्व का साक्षात्कार करके यह सत्य वचन कहा है—

नितरंग सम सहजरुअ सअल कलुष विरहिते।
पाप पुण्ण रहिए, कुच्छ नाहि फुल कान्हु कहिए॥ १०॥

यह साधना नाथ मार्गियों के साधना से बहुत कुछ मिलती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि नाथ-सिद्ध भी इसी भावाभावविनिर्मुक्तावस्था को अपनी साधना का चरम लक्ष्य मानते हैं।

---

1. नगरे बाहिरें डोम्बि तोहारि कुड़िआ
छोइ छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िआ॥
आलो डोम्बि तोए सँग करिबे म साँग।
निघिन कान्ह कापालि जोइ लाँग॥
एक सो पदमा चौषट्ठी पाखुड़ी।
तहि चड़ि नाचअ डोम्बि बापुड़ी॥
—पद १०, चर्या० पृ० १६

२. एक न किज्जइ मंत न तंत
णिअ घरणी लेइ केलि करन्त।
णिअ घर घरिणी जाव ण मज्जइ
ताव कि पञ्चवण्ण विहरिज्जइ॥ २८॥
—बौ० गा० दो०: पृ० १३१

३ विरागात्परं पापं न पुण्यं सुखतः परम्।
अतोऽक्षर सुखे चित्तं निवेश्यं तु सदा नृप॥

गोरक्षनाथ (गोरखनाथ)

विक्रम् संवत् की दसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के महान गुरु गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ। शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने कोने में उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरखनाथ का योगमार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गोरक्षनाथ संबंधी कहानियाँ न पाई जाती हों। इन कहानियों में परस्पर ऐतिहासिक विरोध बहुत अधिक है परन्तु फिर भी इनसे एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है—गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे। उन्होंने जिस धातु को छुआ वही सोना हो गया। दुर्भाग्यवश इस महान् धर्मगुरु के विषय में ऐतिहासिक कही जाने लायक बातें बहुत कम रह गई हैं। दन्तकथाएँ केवल उनके और उनके द्वारा प्रवर्तित योग मार्ग के महत्त्व-प्रचार के अतिरिक्त कोई विशेष प्रकाश नहीं देतीं।

उनके जन्मस्थान का कोई निश्चित पता नहीं चलता। परम्पराएँ अनेक प्रकार के अनुमान को उत्तेजना देती हैं और इसीलिए भिन्न भिन्न अन्वेषकों ने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न स्थानों को उनका जन्मस्थान मान लिया है। योगि संप्रदाया विष्कृति में उन्हें गोदावरी तीर के किसी चंद्रगिरि में उत्पन्न बताया गया है।[1] नेपाल दरबार लाइब्रेरी में एक परवर्ती काल का गोरक्षसहस्रनामस्तोत्र नामक छोटा सा ग्रंथ है। उसमें एक श्लोक इस आशय का है कि दक्षिण दिशा में कोई बड़व नामक देश है वहीं महामंत्र के प्रसाद से महाबुद्धिशाली गोरक्षनाथ प्रादुर्भूत हुए थे।[2] संभवतः इस श्लोक में उसी परंपरा की ओर इशारा है जो योगि संप्रदाया विष्कृति में पाई जाती है। श्लोक में का बड़व शायद गोदावरी तीर के प्रदेश का वाचक हो सकता है। क्रुक्स ने[3] एक परम्परा का उल्लेख किया है, जिसे ग्रियर्सन ने भी उद्धृत किया है।[4]

---

१. यो० सं० आ० : पृ० २३

२. अस्ति याम्यां (? पश्चिमायां) दिशिकश्चिद्देशः बड़व संज्ञकः।
तत्राजनि महाबुद्धिर्महामंत्र प्रसादतः।
—कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका, पृ० ६४

३. ट्रा० का० : पृ० १५३—४

४. इ० रे० पृ० : पृ० ३२८

है जिसमें कहा गया है कि गोरखनाथ सत्ययुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर में, द्वापर में द्वारका के भी आगे हुरमुज में और कलिकाल में काठियावाड़ की गोरखमढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे। बंगाल में यह विश्वास किया जाता है कि गोरखनाथ उसी प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। नेपाली परंपराओं से अनुमान होता है कि वे पंजाब से चलकर नेपाल गए थे। गोरखपुर के महन्त ने ब्रिग्स साहब को बताया था कि गुरु गोरखनाथ टिला (झेलम-पंजाब) से गोरखपुर आए थे[1] नासिक के योगियों का विश्वास है कि वे पहले नेपाल से पंजाब आए थे और बाद में नासिक की ओर गए थे। टिला का प्राधान्य देखकर ब्रिग्स ने अनुमान किया है कि वे संभवत: पंजाब के निवासी रहे होंगे[2]। कच्छ में प्रसिद्धि है कि गोरखनाथ के शिष्य धर्मनाथ पेशावर से कच्छ गए थे। ग्रियर्सन ने इन्हें गोरखनाथ का सतीर्थ कहा है[3] परन्तु वस्तुत: धरमनाथ बहुत परवर्ती हैं। ग्रियर्सन ने अन्दाज लगाया है कि गोरखनाथ संभवत: पश्चिमी हिमालय के रहने वाले थे। इन्हों ने नेपाल को आर्य अवलोकितेश्वर के प्रभाव से निकालकर शैव बनाया था। ब्रिग्स का अनुमान है कि गोरखनाथ पहले वज्रयानी साधक थे, बाद में शैव हुए थे। हम ने मत्स्येंद्रनाथ के प्रसंग में इस मत की और एतत्संबंधी तिब्बती परंपरा की जांच की है। तिब्बती परंपराएं बहुत परवर्ती हैं और विकृतरूप में उपलब्ध हैं; उनको बहुत अधिक निर्भरयोग्य समझना भूल है। मेरा अनुमान है कि गोरखनाथ निश्चित रूप से ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण वातावरण में बड़े हुए थे। उनके गुरु मत्स्येंद्रनाथ भी शायद ही कभी बौद्ध साधक रहे हों। मेरे अनुमान का कारण गोरखनाथी साधना का मूल सुर है जिसकी चर्चा हम इसी प्रसंग में आगे करने जा रहे हैं।

गोरखनाथ के नाम पर बहुत ग्रंथ चलते हैं जिनमें अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई संदेहास्पद हैं। सब मिला कर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरखनाथ की कुछ पुस्तकें नाना भाव से परिवर्तित परिवर्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमें कुछ-न-कुछ गोरखनाथ की वाणी रह जरूर गई है, पर सभी की सभी प्रामाणिक नहीं हैं। इन पुस्तकों पर से कई विद्वानों ने गोरखनाथ का स्थान और कालनिर्णय करने का प्रयत्न किया था, वे सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए हैं। कबीरदास के साथ गोरखनाथ की बातचीत हुई थी, और उस बातचीत का विवरण बताने वाली पुस्तक उपलब्ध है इस पर से एक बार ग्रियर्सन तक ने अनुमान किया था कि गोरखनाथ चौदहवीं शताब्दी के व्यक्ति थे। गुरु नानक के साथ भी उनकी बातचीत का विवरण मिल जाता है। और, और तो और सत्रहवीं शताब्दी के जैन दिगंबर सन्त बनारसीदास के साथ शास्त्रार्थ होने का प्रसंग भी मैंने सुना है। टेसिटरी ने बनारसीदास जैन की एक पुस्तक गो र ख ना थ की (?) व च न का भी उल्लेख किया है[4]। इन बातचीतों का ऐतिहासिक मूल्य बहुत

---

१. यो० सं० आ० (अध्याय ४८) से इसी मत का समर्थन होता है।

२ ब्रिग्स: पृ० २२६

३. इ० रे० ए०: पृ० ३२८

४. इ० रे० ए०: ११ वीं जिल्द, पृ० ८३४

कम है। ज्यादा से ज्यादा इनकी व्याख्या सांप्रदायिक महत्त्व प्रतिपादन के रूप में ही की जा सकती है। या फिर आध्यात्मिक रूप में इनकी व्याख्या यों की जा सकती है कि परवर्ती सन्त ने ध्यान बल से पूर्ववर्ती सन्त के उपदिष्ट मार्ग से अपने अनुभवों की तुलना की है परन्तु इनपर से गोरखनाथ का समय निकालना निष्फल प्रयास है। कबीरदास के साथ तो मुहम्मद साहब की बातचीत का ब्यौरा भी उपलब्ध है तो क्या इसपर से यह अनुमान किया जा सकता है कि कबीरदास और हजरत मुहम्मद समकालीन थे? वस्तुतः गोरखनाथ को दसवीं शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसंग में हमने इसका निर्णय कर लिया है।

गोरखनाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्गीय ग्रंथों के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैवप्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर बहुधाविस्रस्त काया-योग के साधनों को व्यवस्थित किया है, आत्मानुभूति और शैव परंपरा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की, उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के सांवृतिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत और संपूर्ण ब्रह्मण विरोधी साधनमार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़ि विरोधी रूप ज्यों का त्यों बना रहा परन्तु उसकी अशिक्षा जन्य प्रमाद पूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गईं। उन्होंने लोकभाषा को भी अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। यद्यपि उपलब्ध सामग्री से यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि उनके नाम पर चलने वाली लोकभाषा की पुस्तकों में कौन-सी प्रामाणिक है और उनकी भाषा का विशुद्ध रूप क्या है तथापि इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने अपने उपदेश लोकभाषा में प्रचारित किए थे। कभी कभी इन पुस्तकों की भाषा पर से भी उनके काल का निर्णय करने का प्रयास किया गया है। स्पष्ट है कि यह प्रयास भी निष्फल है।

गोरखनाथ की लिखी हुई कही जाने वाली निम्नलिखित संस्कृत पुस्तकें मिलती हैं। इनमें से कई को मैंने स्वयं नहीं देखा है, भिन्न भिन्न ग्रंथ सूचियों और आलोचनात्मक अध्ययनों से संग्रह भर कर लिया है। जिनको देखा है उनका एक संक्षिप्त विवरण भी दे दिया है। अनदेखी पुस्तकों के नाम जिस मूल से प्राप्त हुए हैं उनका उल्लेख कोष्ठक में पुस्तक के सामने कर दिया गया है।

१. **अमनस्क**—एक प्रति बड़ौदा लाइब्रेरी में है। गो० सि० सं० में बहुत से वचन उद्धृत हैं।

२. **अमरौघशासनम्**—श्री मन्महामाहेश्वराचार्य श्री सिद्ध गोरखनाथ विरचितम्। यह पुस्तक काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि (ग्रंथाङ्क २०) में प्रकाशित हुई है। महामहोपाध्याय पं० मुकुन्दराम शास्त्री ने इसका संपादन किया है। यद्यपि यह

पुस्तक सन् (१९२२ ई०) में छप गयी थी, परन्तु आश्चर्य यह है कि गोरखनाथी साहित्य के अध्ययन करने वालों ने इसकी कोई चर्चा नहीं की है। यह पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें गोरखनाथ के सिद्धान्त का सूत्ररूप में संकलन है। यह पुस्तक हठयोग को आगमों शैवागमों से संबंध और जोड़ती है। आगे इसके प्रतिपादित सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

३. **अवधूतगीता** – गो० सि० स० पृ० ७५ में गोरक्षकृता कही गई है।

४. **गोरक्षकल्प** (फर्कुहर, ब्रिग्स)

५. **गोरक्षकौमुदी** (फर्कुहर, ब्रिग्स)

६. **गोरक्षगीता** (फर्कुहर)

७. **गोरक्षचिकित्सा** (आफ्रेख्ट)

८. **गोरक्षपञ्चय** (ब्रिग्स)

९. **गोरक्ष पद्धति** – दो सौ संस्कृत श्लोकों का संग्रह। बंबई से महीधर शर्मा की हिंदी टीका समेत छपी है। इसका प्रथमशतक गोरक्षशतक नाम से कई बार छप चुका है। इसी का नाम गोरक्षज्ञान भी है। दूसरे शतक का नाम योगशास्त्र भी बताया गया है।

१०. **गोरक्षशतक**—ऊपर नं० ७ का प्रथम शतक। इसकी एक प्रति पूना से छपी मिली है। ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक में इसको रोमन अक्षरों में छापा है और उसका अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है। इनके मत से यह पुस्तक गोरखनाथ की सच्ची रचना जान पड़ती है। डाक्टर प्रबोधचंद्र बागची ने कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका में नेपाल दरबार लाइब्रेरी के एक हस्तलिखित ग्रंथ का ब्यौरा दिया है। नेपाल वाली पुस्तक छपी हुई पुस्तकों से भिन्न नहीं है।

इस पर दो टीकाएं हुई हैं। एक शंकर पंडित की और दूसरी मथुरानाथ शुक्ल की। दूसरी टीका का नाम टिप्पण है (ब्रिग्स)। इसी पुस्तक के दो और नाम भी प्रचलित हैं, (१) ज्ञानप्रकाश और (२) ज्ञानप्रकाश शतक (आफ्रेख्ट)।

११. **गोरक्षशास्त्र** – दे० नं० ९

१२. **गोरक्ष संहिता** – प्रायः सभी सूचियों में इस पुस्तक का नाम आता है। पं० प्रसन्नकुमार कविरत्न ने इस पुस्तक को सं० १९९१ में छपाया था। परन्तु अब यह पुस्तक खोजे नहीं मिलती। डा० बागची ने कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका में नेपाल दरबार लाइब्रेरी में पाई गई प्रति में से कुछ अंश उद्धृत किया है। पुस्तक के कितने ही श्लोक हू-बहू मत्स्येन्द्रनाथ के अकुलवीरतंत्र नामक

ग्रंथ से मिल जाते हैं और दोनों का प्रतिपादन भी एक ही है। इस प्रकार यह पुस्तक काफी महत्त्वपूर्ण है।

१३. **चतुरशीत्यासन** (आफ्रेख्ट)

१४. **ज्ञानप्रकाशशतक** (दे० न० १०)

१५. **ज्ञानशतक** (दे० १०)

१६. **ज्ञानामृतयोग** (आफ्रेख्ट)

१७. **नाड़ीज्ञानप्रदीपिका** (आफ्रेख्ट)

१८. **महार्थमंजरी**—यह पुस्तक काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि (नं० ११) में छपी है। यह किसी महेश्वरानंद नाथ की लिखी हुई है। काश्मीरी परंपरा के अनुसार ये गोरक्षनाथ ही हैं। पुस्तक म० म० पं० मुकुन्दराम शास्त्री ने संपादित की है। इस पर भी लिखा है—'गोरक्षापरपर्याय श्रीमन्महेश्वरानंदाचार्य विरचिता'। पुस्तक की भाषा काश्मीरी अपभ्रंश है परन्तु ग्रंथकार ने स्वयं परिमल नामक टीका लिखी है। विषय ३६ तत्त्वों की व्याख्या है। नाना दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

१९. **योगचिन्तामणि** (आफ्रेख्ट)

२०. **योगमार्तण्ड** (,,)

२१. **योगबीज**—गो. सि. सं. में अनेक वचन उद्धृत हैं

२२. **योगशास्त्र** (दे० नं० ७)

२३. **योगसिद्धासनपद्धति**— आफ्रेख्ट

२४. **विवेकमार्तण्ड**—इस पुस्तक के कुछ वचन गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में हैं। इसके श्लोक गोरक्षशतक में पाए जाते हैं। इसलिये यद्यपि इसे रामेश्वर भट्ट का बताया गया है तो भी आफ्रेख्ट के अनुसार इसे गोरक्षकृत ही मानना उचित जान पड़ता है।

२५. **श्रीनाथसूत्र**—गो. सि. सं. में कुछ वचन हैं।

२६. **सिद्धसिद्धान्त पद्धति**—ब्रिग्स ने नित्यानंदरचित कहा है पर अन्य सबने गोरक्षनाथ रचित बताया है। गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में भी इसे नित्यनाथ विरचिता कहा गया है (पृ० ११)।

२७. **हठयोग**—(आफ्रेख्ट)

२८. **हठ संहिता**-(,,)

इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्ता स्वयं गोरखनाथ नहीं थे। साधारणतः उनके उपदेशों को नये-नये रूप में वचनबद्ध किया गया है। परन्तु १, २, ९, १२ और २६ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी १ को मैंने देखा नहीं, केवल गोरक्षसिद्धान्त में संगृहीत वचनों से उसका परिचय पा सका हूँ। सिद्धसिद्धान्तपद्धति को संक्षिप्त करके काशी के

बलभद्र पंडित ने एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी जिसका नाम है सि द्ध सि द्धा न्त सं ग्र ह। इस में तथा गो र क्ष सि द्धा न्त सं ग्र ह में सि द्ध सि द्धा न्त प द्ध ति के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। इन सबके आधार पर गोरखनाथ के मत का प्रतिपादन किया जा सकता है। इस विषय में गो र क्ष सि द्धा न्त सं ग्र ह बहुत ही उपयोगी पुस्तक है।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त हिन्दी में भी गोरखनाथ की कई पुस्तकें पाई जाती हैं। इनका संपादन बड़े परिश्रम और बड़ी योग्यता के साथ स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने किया है। यह ग्रंथ गो र ख बा नी नाम से हिंदी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित हुआ है। दूसरा भाग अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ और अत्यन्त दुःख की बात है कि उसके प्रकाशित होने के पूर्व ही मेधावी ग्रंथकार ने इह लोक त्याग दिया। डा० बड़थ्वाल की खोज से निम्नलिखित चालीस पुस्तकों का पता चला है जिन्हें गोरख नाथ-रचित बताया जाता है ;

१.	सबदी	२१.	नवग्रह
२	पद.	२२.	नवरात्र
३	सिष्या दरसन	२३.	अष्ट पारछ्या
४.	प्राण संकली	२४.	रहरास
५.	नरवै बोध	२५.	ग्यान माला
६.	आतम बोध (१)	२६.	आत्माबोध (२)
७.	अभैमात्रा जोग	२७.	व्रत
८.	पंद्रहतिथि	२८.	निरंजनपुराण
९.	सप्त वार	२९.	गोरखबचन
१०.	मछीन्द्र गोरख बोध	३०.	इन्द्री देवता
११.	रोमावली	३१.	मूल गर्भावली
१२.	ग्यान तिलक	३२.	खाणी बाणी
१३.	ग्यान चौंतीसा	३३.	गोरख सत
१४.	पंचमात्रा	३४.	अष्ट मुद्रा
१५.	गोरख गणेश गोष्टी	३५.	चौबीस सिधि
१६.	गोरखदत्त गोष्टी (ग्यान दीप बोध)	३६.	षडक्षरी
१७.	महादेव गोरखगुष्टि	३७	पंच अग्नि
१८.	सिष्ट पुरान	३८.	अष्ट चक्र
१९.	दयाबोध	३९.	अवलि सिलूक
२०.	जाती भौंरावली (छंद गोरख)	४०.	काफिर बोध

डा० बड़थ्वाल ने अनेक प्रतियों की जांच कर के इन में प्रथम चौदह को तो निस्सन्दिग्ध रूप से प्राचीन माना क्योंकि इनका उल्लेख प्रायः सब में मिला। ग्या न चौं ती सा समय पर न मिल सकने के कारण इस संग्रह में प्रकाशित नहीं कराया जा सका परन्तु बाकी तेरह गोरखनाथ की बानी समझकर पुस्तक में संग्रहीत हुए हैं। १५

से १९ तक की प्रतियों को एक प्रति में संतादास निरंजनी की रचना माना गया है। इसलिये संदेहास्पद समझकर संपादक ने उन्हें परिशिष्ट क में छापा है। बाकी में कुछ गोरखनाथ की स्तुति हैं, कुछ अन्य ग्रंथकर्ता के नाम भी हैं, काफिर बोध कबीर दास के नाम भी है इसलिये डा० बड़थ्वाल ने इस संग्रह में उन्हें स्थान नहीं दिया। केवल परिशिष्ट ख में सप्तवार, नवग्रह, व्रत, पंच अग्नि, अष्ट मुद्रा, चौबीस सिद्धि, बत्तीस लक्षण, अष्ट चक्र, रहरासि को स्थान दिया है। अवलिसिलूक और काफिर बोध रतन नाथ के लिखे हुए हैं। डा० बड़थ्वाल इन प्रतियों की आलोचना करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि 'सबदी' गोरख की सबसे प्रामाणिक रचना जान पड़ती है। परन्तु वह उतनी परिचित नहीं जितनी गोरखबोध[1]। गोरखबोध की सबसे पहली छपी हुई एक खण्डित प्रति कार्माइकल लाइब्रेरी, काशी में है जो सन् १९११ में बांस का फाटक बनारस से छपी थी। बाद में इसे जयपुर पुस्तकालय से संग्रह करके डा० मोहनसिंह ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ अपनी पुस्तक में प्रकाशित की है। डा० मोहनसिंह इस पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धान्तों को बहुत प्रामाणिक मानते हैं परन्तु मत्स्येंद्रनाथ के उपलब्ध ग्रंथों के आलोक में डाक्टर मोहनसिंह का मत बहुत ग्रहणीय नहीं लगता। डाक्टर बड़थ्वाल ने इन पुस्तकों के रचयिता के बारे में विशेष रूप से लिखने का वादा किया था पर महाकाल ने उसे पूरा नहीं होने दिया। परन्तु अपने भावी मत का आभास उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में दे रखा है: 'नाथ-परंपरा में इनके कर्ता प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते। मैं अधिक संभव समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ११ वीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती ही में हुआ हो।'[2]

आगे इस उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम गोरखनाथ के उपदेशों का सार संकलन कर रहे हैं।[3]

---

१. गोरखबानी, भूमिका पृ० १८-१९

२. गोरखबानी: भूमिका पृ० २०

३. उपरिलिखित ग्रंथों के अतिरिक्त शिवानंद सरस्वती का योगचिंतामणि, रामेश्वर भट्ट का विवेकमार्तण्ड योग, सुन्दरदेव की हठसंकेतचंद्रिका, स्वात्माराम की हठयोगप्रदीपिका और उस पर रामानंद तीर्थ की टीका और उमापति का टिप्पण, ब्रह्मानंद की ज्योत्स्ना, चण्ड कापालिक की हठरत्नावली, शिव का हठयोग धीराय और उस पर रामानंद तीर्थ की टीका, वामदेव का हठयोग विवेक, सदानंद का ज्ञानामृत टिप्पण, कबडारभैरव का ज्ञानयोगखंड, सुन्दरदेव की संकेतचंद्रिका, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता, मिरअव पुराण इत्यादि ग्रंथ इस मार्ग के सिद्धान्त और साधनपद्धति के अध्ययन में सहाय हैं।

९

पिण्ड और ब्रह्माण्ड

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौल ज्ञान की आलोचना के प्रसंग में शैव सिद्धान्त के छत्तीस तत्त्वों का एक साधारण परिचय दिया जा चुका है. प्रलय काल में इन समस्त तत्त्वों को निःशेषभाव से आत्मसात् करके शक्ति परम शिव में तत्स्वरूपा होकर अवस्थान करती हैं। इसी लिये वामकेश्वर तंत्र में भगवती शक्ति को "कवलीकृतनिःशेषतत्त्व-ग्रामस्वरूपिणी" कहा गया है (४।५)।

इस अवस्था में शिव में कार्य-कारण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्य-कारण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं। वे कुल और अकुल के भेद से परे हो जाते हैं। और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं इसी लिये इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकार गण 'स्वयं' कह कर स्मरण करते हैं।[1]

इस परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छा-युक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (=सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है. अब इस अवस्था में परम शिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है। (१) परम शिव की अवस्था-मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्ती, और प्राय. स्फुरित होने को उपक्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरं पदम्' है धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (२) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (३) स्पन्दित होती है, फिर (४) सूक्ष्म अहन्ता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (५) चेतन शीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती हैं[2]। इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से

---

१ कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्।
अव्यक्तं परम तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ॥
—सि० सि० सं० १।४

२. निजा परापरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे ॥
—वही, १।१३

है कि ये छः पिण्ड वस्तुतः क्या हैं। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज ने सिद्ध सिद्धान्त संग्रह की भूमिका में लिखा है कि ये छः पिण्ड इस प्रकार हैं—

१. पर या आद्य पिण्ड
२. साकार पिण्ड
३. महासाकार पिण्ड
४. प्राकृत पिण्ड
५. अवलोकन पिण्ड
६. गर्भ पिण्ड

सिद्ध सिद्धान्त पद्धति के आधार पर सं० १८८१ वि० में मारवाड़-नरेश महाराणा मानसिंह के राज्य काल में २५ चित्र बनवाए गए थे। ये चित्र "देशी कागज की बनी करीब ४ फुट लंबी, १½ फुट चौड़ी और ३/१६ इंच मोटी दफ़्ती पर बने हैं" और आज से सवा सौ वर्ष पहले के राजपूत कलम के उत्तम नमूने हैं। ये जोधपुर के राजकीय सरदार म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं। सन् १९३५ ई० में पंडित विश्वेश्वर नाथ जी रेउ ने इन चित्रों का विवरण एक छोटी सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कराया था। हम जिस बात की चर्चा यहाँ कर रहे हैं वह इन चित्रों के द्वारा अधिक स्पष्ट होगी, इस आशा

ग—व्यक्ताख्य शक्ति के गुण

१. इच्छा—उन्मेष, वासना, वीप्सा, चिन्ता, चेष्टा
२. कर्म—स्मृति, उद्यम, उद्वेग, कार्य, निश्चय
३. माया—मद, मात्सर्य, कपट, कर्त्तव्य, असत्य
४. प्रकृति—आशा, तृष्णा, कांक्षा, स्पृहा, मृषा
५. वाक्—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इष्टाक्षरमातृका

२५ गुण

घ—प्रत्यक्षकारी गुण

१. काम—रति, प्रीति, क्रीड़ा, आतुरता, अभिलाषा
२. कर्म—शुभ, अशुभ, कीर्ति, अकीर्ति, इच्छागत
३. अग्नि—उल्लोल, कल्लोल, उच्चलन, उन्माद, विलेरन
४. चन्द्र—उल्लिका, नामवती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्ना
५. अर्क—तपिनी, ग्रसिनी, क्रूरा, कुञ्चनी, शोषणी, बोधिनी, स्मरा, कर्षिणी, अर्थवृद्धिवर्धिनी, ऊर्मिरेखाकिरणानी, प्रभावती

(६) दशद्वार, ७२ हजार नाड़ियाँ, पंच प्राण, नौ चक्र, सोलह आधार आदि का गर्भपिण्ड।

क—दशद्वार—मुख कर्ण (दो), नासिका (दो), चक्षु (दो) पायु, उपस्थ और ब्रह्मरंध्र

ख—प्रधान दस नाड़ियाँ—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी पूषा, अलम्बुषा, पयस्विनी और कुहू

ग—घ—चक्र और आधार का विचार आगे किया गया है।

से यहाँ उक्त चित्र-पुस्तिका के कुछ चित्रों के परिचयों का संकलन किया जा रहा है। यह स्मरण रखना चाहिये कि सिद्ध सिद्धान्त संग्रह वस्तुतः इस पुस्तक का ही संक्षिप्त रूप है। मूल ग्रंथ सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ही है।

"दूसरा चित्र त्रिगुणात्मक आदि पिंड का बताया गया है। इसका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

(२) त्रिगुणात्मक आदि पिण्ड। आदि पिण्ड से (नील वर्ण) महा आकाश का, महा आकाश से (धूम्र वर्ण) महावायु का, महा-वायु से (रक्तवर्ण) महातेज का, महातेज से (श्वेत वर्ण) महासलिल (जल) का और उससे (पीत वर्ण) महापृथ्वी का उत्पन्न होना। इन पंचमहा-तत्त्वों से महासाकार पिण्ड का और उससे (१) शिव का उत्पन्न होना। इसी प्रकार आगे शिव से (२) भैरव का, भैरव से (३) श्रीकण्ठ का, श्रीकण्ठ से (४) सदाशिव का, सदाशिव से (५) ईश्वर का, ईश्वर से (६) रुद्र का, रुद्र से (७) विष्णु का, और विष्णु से (८) ब्रह्मा का उत्पन्न होना। फिर ब्रह्मा से नर-नारी रूप (९) प्रकृति पिण्ड का उत्पन्न होना।

तीसरे चित्र का विवरण इस प्रकार है—

(३) नर नारी के संयोग से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति। पिण्ड का रूप।

सिद्ध सिद्धान्त संग्रह से और सिद्ध सिद्धान्त पद्धति के आधार पर बने हुए इन चित्रों के विवरण से ऐसा जान पड़ता है कि प्रथम पिण्ड पर-पिण्ड है जो त्रिगुणातीत है और आदि या आद्य पिण्ड वस्तुतः उसके बाद की अवस्था का नाम है। फिर साकार पिण्ड और महा साकार पिण्ड भी अलग अलग नहीं जान पड़ते। साकार पिण्ड को ही ग्रंथकार ने महासाकार पिण्ड कहा है। यदि यह बात ठीक है तो छः मुख्य पिण्ड इस प्रकार हो सकते हैं—

(१) पर पिण्ड
(२) आद्य पिण्ड
(३) साकार या महासाकार पिण्ड
(४) प्राकृत पिण्ड
(५) अवलोकन पिण्ड
(६) गर्भ पिण्ड

इन पिण्डों में पर पिण्ड तो शिव और शक्ति के संयोग से उत्पन्न है। परवर्ती तीन तत्वों से आद्य पिण्ड और माया और पंच कंचुकों से आच्छादित अहन्ता-प्रधान पुरुष और इदन्ताप्रधान[1] प्रकृति तक साकार तत्त्व हैं। महत्तत्त्व से पंचतन्मात्र तक प्राकृत पिण्ड और एकादश इन्द्रियों का अवलोकन पिण्ड है। फिर गर्भोत्पन्न यह पंच भूतात्मक स्थूल शरीर गर्भ पिण्ड है। इस प्रकार ३६ तत्त्वों के स्फुरण से इन पिण्डोत्पत्ति का सामंजस्य किया गया है।

---

१. 'अहं' और 'इदं' संस्कृत में क्रमशः 'मैं' और 'यह' के वाचक हैं। अहन्ता का अर्थ है 'मैं-पन' और इदन्ता का अर्थ है 'यह-पन'। पुरुष में 'अहन्ता' की प्रधानता होती है अर्थात उसमें 'चेतन मैं हूं' यह भाव प्रधान होता है। प्रकृति में 'इदन्ता' की प्रधानता होती है अर्थात् पुरुष उसे चेतन से भिन्न 'इदं' (यह) के रूप में समझता है।

पर शिव
शिव
शक्ति
पर पिण्ड (१)
(३) सदा शिव
अहं (मैं)
इदं (यह)
अहं (मैं)
इदं (यह)
ईश्वर (४)
आद्य पिंड (२)
अहं (मैं)
इदं (यह)
शुद्धविद्या (५)
(६) माया
पंच कंचुक (७-११)
साकार पिंड- (३)
पुरुष (१२)
अहं (मैं)
इदं (यह)
प्रकृति (१३)
(१४) महान्
अहंकार (१४)
(१६-२०) पंच तन्मात्र
प्राकृत पिंड- (४)
एकादश इन्द्रिय (२१-३१)
पंच भूत (३१-३६)
(५) अवलोकन पिण्ड
गर्भ पिंड (६)
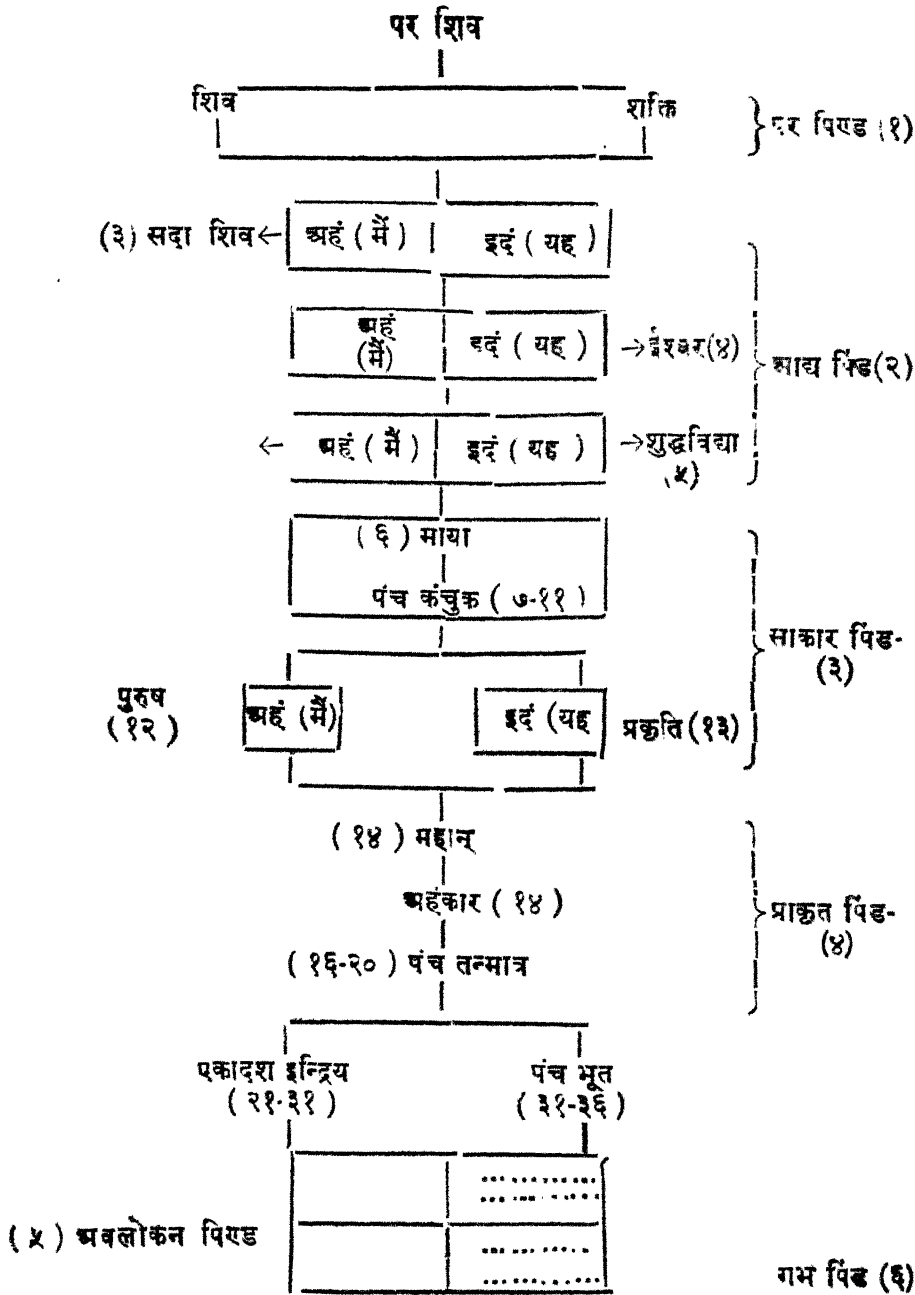
अत: यह स्पष्ट है कि पर शिव ही अपनी सिसृक्षा रूपा शक्ति के कारण इस जगत् के रूप में बदल गए हैं। संसार में जो कुछ भी पिण्ड है वह वस्तुत: उसी प्रक्रिया में से गुजरता हुआ बना है जिस अवस्था क्रम से यह समूचा ब्रह्माण्ड बना है। सब में वही तत्त्व ज्यों के त्यों हैं। परन्तु सत्व, रज, तम, काल और जीव (अर्थात् प्राण शक्ति) की अधिकता और न्यूनता के कारण उनमें भेद प्रतीत हो रहा है। विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं को असत्य नहीं समझना चाहिए। वे सभी सत्य हैं। जितनी नाड़ियाँ या द्वार या आधार मनुष्य में हैं उतनी ही समस्त ब्रह्माण्ड में और उतनी ही ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु में है। भेद यही है कि सत्त्व, रज, तम काल और जीव के आधिक्य और न्यूनत्व वश वे कहीं अविकसित हैं, कहीं अर्ध विकसित हैं, कहीं पूर्ण विकसित है। इसी लिये गोरक्षमत में प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है।[१] पिण्ड, मानो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है। गोरक्षनाथ का योग मार्ग साधनापरक मार्ग है इसलिये केवल व्यावहारिक बातों का ही विस्तार उसमें दिया हुआ है। मनुष्य शरीर को ही प्रधान पिण्ड मानकर इसकी व्याख्या की गई है। बताया गया है[२] कि मनुष्य के किस किस अंग में ब्रह्माण्ड का कौन कौन-सा अंश है। पाताल कहाँ है, स्वर्ग कहाँ है। साधनामार्ग के तीर्थस्थान कहाँ हैं, गंधर्व, यक्ष, उरग, किन्नर भूत, पिशाच आदि के स्थान कहाँ हैं। अनुसंधित्सु पाठक मूल ग्रन्थों में उसका विस्तार खोज सकते हैं।

स्पष्ट ही, इस शरीर में सबसे प्रधान कार्यकारिणी शक्ति कुण्डली है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड में प्रव्याप्त महाकुण्डलिनी का ही पिण्ड-गत स्वरूप है। यह लक्ष्य करने की बात है कि पर पिण्ड को ही प्रथम या आद्य पिण्ड नहीं कहा गया है। नाथ मार्ग अद्वैत-वादी है परन्तु शांकर वेदान्त से अपना भेद बताने के लिये ये लोग अपने को 'द्वैता-

---

१. ब्रह्माण्डवर्ति यत् किञ्चित्,

तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।

—सि० सि० सं ३।२

२. देखिए सि० सि० सं० तृतीयोपदेश

द्वैत विलक्षण[1]-वादी कहते हैं! नाथ तत्त्व द्वैत और अद्वैत दोनों से परे है[2]। आद्य या प्रथम कहने से वह संख्या द्वारा सूचित किया जाता है और संख्या भी एक उपाधि है, इसलिये पर तत्त्व को '१' संख्या द्वारा भी सूचित नहीं किया जा सकता। वह उस से भी अतीत अखण्ड ज्ञान-रूपी निरंजन है[3]—शून्य है। वह निष्क्रिय और क्रिया ब्रह्म दोनों से अतीत अवाच्य पद है। इसीलिये उसकी आद्य संज्ञा नहीं हो सकती। पहला पिण्ड भी इसीलिये 'पर पिण्ड' कहा जाता है, आद्य पिण्ड नहीं[4]। जगत् का प्रपञ्च शक्ति के स्फोट के बाद शुरू होता है इसलिये शक्ति ही असल में जगत्कर्त्री है शिव नहीं। शिव केवल ज्ञेय है।

प्रश्न हो सकता है कि सृष्टि का आदि कर्तृत्व तो शिव का है, शक्ति तो उसकी निर्वाहिका मात्र है उसी को प्रधानकर्त्री और उपास्य क्यों माना जाय? जगत् के मुख्य कर्ता और नियन्ता तो शिव ही हुए, शक्ति तो उनकी सहायिका भर ही है, फिर इस सहायिका को उपास्य क्यों माना जाय! रामेश्वर भट्ट ने परशुराम कल्प सूत्र ६.१ की टीका में इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उस उत्तर का सारमर्म यह है कि क्षिति आदि कार्यों का कोई न कोई कारण होना चाहिए, कारण के बिना ये उपपन्न नहीं हो सकते। इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिये ही शिव और शक्ति की कल्पना है। वेदान्ती लोग

---

१. यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतम्? यदा माया कल्पितमिति वदेयुस्तर्हि तान् वदन्तो वयमवाचोऽक्रियश्चकर्म तत् किमिति चेदुच्यते। अद्वैतं तु निष्क्रियादित्यास्यस्ति। यतः कार्यादि वस्तुनो भोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्य-इत्यादनेकविधिभिरद्वैतखण्डनं करिष्यामः। महासिद्धैरुक्तं यद्द्वैताद्वैत विवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेवसम्यगित्यभ्युपगमिष्यामः।

— गो० सि० सं० पृ० १६

२. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैत विलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पन ॥

गो० सि० सं० (पृ० ११) में अवधूत गीता का वचन

३. निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पुरुषः
तदाविवक्षतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः।

— शिव-संहिता १·६८

४. असमं असमं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम्।
अचिन्त्यचिन्तकं चैव सर्वभावस्वभ यकम्।

भी ब्रह्म की एक शक्ति स्वीकार करते हैं। चित्स्वरूप ब्रह्म का धर्म भी चित्स्वरूप ही होना उचित है। वेदान्ती लोग ऐसा नहीं मान कर गलती करते हैं। वे चिद्रूप ब्रह्म की शक्ति माया को जड़स्वभावा मानते हैं। यही माया जगत् का उपादान है इसलिये यह समूचा जगत् जड़ है। शाक्त आगमों में यह बात नहीं मानी गई। धर्मी और धर्म में अभेद होता है इसलिये चेतन ब्रह्म की शक्ति भी चेतन होगी। ब्रह्म धर्मी है, शक्ति उसका धर्म। फिर भी व्यवहार में धर्म और धर्मी में थोड़ा भेद मानना ही पड़ता है। इसीलिए धर्मी शिव और धर्म शक्ति अभिन्न होने पर भी व्यवहारानुरोध से भिन्नवत् मान लिये जाते हैं। शिव (परशिव) रूपातीत, गुणातीत शून्य रूप निरालंब स्वभाव हैं इसीलिये उनका स्वरूप निर्धारण अशक्य है। उपासना के लिये यह 'पर शिव' उपयुक्त नहीं है। उनके स्वरूप से अभिन्न और फिर भी भिन्न रूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। इस उपासना के द्वारा परमशिव के साथ शक्ति का (और इसीलिये समस्त जगत् प्रपंच का) अभेद ज्ञान ही साधक का चरम लक्ष्य है। यह कहना ठीक नहीं कि कर्तृत्व और निर्वाहकत्व दोनों ही चित् में ही अवस्थित हैं अतः चित्स्वरूप शिव से भिन्न शक्ति को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। क्या श्रुति-स्मृति और क्या लोक व्यवहार, सर्वत्र शक्ति को स्वीकार किया गया है। गोपवधू से लेकर सुपंडित ब्राह्मण तक सभी यह कहते हैं कि यह कार्य करने की 'शक्ति' मुझ में है या नहीं है। इस प्रकार शक्ति की कल्पना केवल कल्पना नहीं है, वह तथ्य है। शिव-कुक्षि में वर्तमान यह जगत् भी वस्तुतः शक्ति द्वारा ही निर्वाह्य है।[1]

इस शक्ति की उपासना के लिये दूर भटकने की जरूरत नहीं है। प्रत्येक पिण्ड में, प्रत्येक अणु-परमाणु में वह शक्ति विद्यमान है। जगत् का प्रत्येक प्राणी उसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप में अनुभव करता है। ब्रह्माण्ड के रग रग में प्रव्याप्त यह शक्ति मानव देह में कुण्डलिनी रूप में स्थित है। नाथमार्गी साधक इस शक्ति की उपासना का प्रधान साधन पिण्ड अर्थात् काया को ही मानता है। वैसे तो सभी प्राणी और अप्राणी शक्ति के आवास हैं किन्तु केवल शक्ति का संचालन ही लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि। समस्त प्राणियों में सर्वाधिक सत्वगुणी मनुष्य है। मनुष्य का शरीर योग सिद्धि का उत्तम साधन है। परन्तु इसको पाने मात्र से योगसिद्धि नहीं होती। इसको समझना चाहिए। इसीलिये गोरक्षनाथ ने कहा है कि जो योग-सिद्धि का अभिलाषी यही नहीं जानता कि उसके शरीर में छः चक्र क्या और कहां हैं; षोडष आधार कौन कौन हैं, दो लक्ष्य क्या हैं, पाँच व्योम क्या वस्तु हैं वह कैसे सिद्धि पा सकता है? फिर एक खंभे वाले, नौ दरवाजों वाले और पाँच मालिकों के द्वारा अधिकृत इस शरीर रूपी घर को जो नहीं जानता उससे योग की सिद्धि की क्या

१. कौ० मा० १०: पृ० १८९-१९०

आशा हो सकती है ?[1] इनको जाने बिना मोक्ष कहां मिल सकता है। आश्चर्य है दुनिया के लोगों की मूर्खता पर ! कोई शुभाशुभ कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष चाहता है, कोई वेदपाठ से, कोई (बौद्ध लोग) निरालंबन को बहुमान देते हैं, कोई ध्यान-कला-करण-संबद्ध प्रयोग से उत्पन्न रूप-बिंदु-नाद-चैतन्य-पिण्ड-आकाश को मोक्ष कहते हैं[2], कोई पूजा पूजक मद्य-मांस, सुरतादि से उत्पन्न आनंद को मोक्ष कहते हैं, कोई मूलकंद से उल्लसित कुण्डलिनी के संचार को ही मोक्ष कहते हैं, और कोई समदृष्टि निपात को ही मोक्ष कहते हैं। परन्तु ये सभी असल में मोक्ष नहीं हैं। जब सहजसमाधि के द्वारा मन से ही मन को देखा जाता है तब जो अवस्था होती है असल में वही मोक्ष है।[2] यह सहजसमाधि क्या है ? इस बात को समझने के पहले पातंजल-विहित योगमार्ग को समझना आवश्यक है।

नाथमार्ग के परवर्ती ग्रंथों में कुण्डलिनी की कोई चर्चा नहीं आती। म छि न्द्र-गो र ख बो ध में गोरखनाथ के प्रश्नों का उत्तर मत्स्येन्द्रनाथ ने दिया है। इस प्रश्नोत्तरी में कुण्डली या कुण्डलिनी के विषय में न तो कोई प्रश्न है न उत्तर। अनेक ग्रंथों में हठयोग को कुण्डलीयोग से भिन्न बताया गया है। फिर भी संस्कृत में प्राप्त गोरख लिखित मानी जाने वाली प्रायः सभी पुस्तकों में कुण्डलिनी शक्ति के उद्बोधन की चर्चा है। अ म रौ घ शा स न का जो वचन ऊपर उद्धृत किया गया है उससे भी मालूम होता है कि गोरखनाथ कुण्डलिनी-वाद के विरोधी थे। पर अ म रौ घ शा स न में प्राणायाम का परिणाम कुण्डलिनी का उद्बोधन बताया गया है, यह हम आगे देखेंगे (११वां अध्याय)। हिन्दी में गोरखपंथ का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें कुण्डली-उद्बोधन का कोई प्रसंग नहीं मिलता। संभवतः नाथमार्ग के परवर्ती अनुयायी इसे भूल गए थे या फिर यह भी हो सकता है कि संस्कृत की पुस्तकों में तंत्र मत का प्रभाव रह गया हो।

---

१. षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥
एक स्तंभं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥

—गो र क्ष श त क १३-१४

२. अहो मूर्खता लोकस्य। केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्मविच्छेदनं मोक्षः, केचिद् वदन्ति वेदपाठाश्रितो मोक्षः, केचिद् वदन्ति निरालम्बनलक्षणो मोक्षः, केचिद् वदन्ति ध्यानकलाकरणसंबद्धप्रयोगसंभवेन रूपबिन्दुनादचैतन्य पिण्डाकाशलक्षणो मोक्षः, केचिद्वदन्ति पूजा-पूजक-मद्य मांसादि सुरत-प्रसंगानंदलक्षणो मोक्षः, केचिद् वदन्ति मूलकन्दोल्लसितकुण्डलीसंचारलक्षणो मोक्षः। केचिद् वदन्ति सुसमदृष्टि निपातलक्षणो मोक्षः। इत्येवंविध भावनाश्रित लक्षणो मोक्षो न भवति। अथ मोक्षपदं कथ्यते—यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः।

—अ म रौ घ शा स न म् पृ० ८-९

१०

पातंजल योग

अनादिकाल से इस देश में योगविद्या का प्रचार है। कठ (६.११; ६.१८); श्वेताश्वतर (२.११; २.८) आदि पुरातन उपनिषदों में इस योगविद्या का उल्लेख है और परवर्ती उपनिषदों में से कई का तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही योग है। आगे संक्षेप में इन परवर्ती उपनिषदों की चर्चा का सुयोग हमें मिल सकेगा। प्रसिद्ध है कि आदि पुरुष हिरण्यगर्भ ने ही पहले पहल मनुष्य जाति के उपकार के लिये इस विद्या का उपदेश किया था। योगदर्शन के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि पतञ्जलि ने हिरण्यगर्भ द्वारा उपदिष्ट शास्त्र का ही पुनः प्रतिपादन किया था। इसीलिये योगि-याज्ञवल्क्य ने हिरण्यगर्भ को ही इस शास्त्र का आदि उपदेष्टा कहा है (१.१.१६ पर तत्त्ववैशारदी)। विश्वास किया जाता है कि पतञ्जलि मुनि शेष नाग के अवतार थे। उनका योगदर्शन पातञ्जलदर्शन के नाम से प्रख्यात है। इस दर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण व्याख्याएं लिखी गई हैं जिनमें व्यास का भाष्य, विज्ञानभिक्षु का वार्तिक, वाचस्पतिमिश्र की टीका, भोजदेव की वृत्ति और रामानन्द यति की मणिप्रभा विशेष रूप से प्रसिद्ध और प्रचलित हैं। मूल पातंजलदर्शन चार पादों (=चरणों) में विभक्त है। सारा ग्रंथ सूत्र रूप में लिखा हुआ है और कुल सूत्रों की संख्या १९५ है। चार पादों के नाम उनमें प्रतिपादित विषय के अनुकूल हैं। नाम इस प्रकार हैं—

१. समाधिपाद, २. साधनपाद, ३. विभूतिपाद और ४. कैवल्यपाद।

पतञ्जलि मुनि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है (१.१.२) भाष्यकार व्यास ने पाँच प्रकार के चित्त गिनाए हैं और बताया है कि इस प्रसंग में योग शब्द का अर्थ समाधि है। जब चित्त में रजोगुण का प्राबल्य होता है तो वह अस्थिर और बहिर्मुख हुआ रहता है और जब तमोगुण का प्राबल्य रहता है तो वह विवेकशून्य हो जाता है, कार्य और अकार्य के विचार से वह हीन हो जाता है। प्रथम को (१) क्षिप्त चित्त कहते हैं और (२) द्वितीय को मूढ़। जब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तो वह दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधनों की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार के चित्त को (३) विक्षिप्त कहते हैं। प्रथम दो तो योग के योग्य एकदम नहीं हैं, तीसरा कदाचित् स्थिर हो भी जाता है। किन्तु चित्त जब बाह्य विषयों से हटकर एकाकार वृत्ति

धारण करता है तो उसे (४) एकाग्र कहते हैं। यह एकाकार वृत्ति भी जब अन्य संस्कारों के साथ साथ लय हो जाती है तो उस चित्त को (५) निरुद्ध चित्त कहते हैं। इन पांच प्रकार के चित्तों के चार परिणाम बताए गए हैं। क्षिप्त और मूढ़ में व्युत्थान, विक्षिप्त में समाधि-प्रारंभ, एकाग्र में एकाग्रता और निरुद्ध में निरोध-लक्षण परिणाम उपयोगी होते हैं। समाधि के लिये अंतिम दो परिणाम बताए गए हैं। सभी प्रकार का निरोध योग नहीं है। प्रेम की अवस्था में क्रोध की और क्रोध की अवस्था में प्रेम की वृत्ति निरुद्ध होती है परन्तु इसे योग नहीं कह सकते। इसीलिये भाष्यकार व्यास ने बताया है कि योग शब्द से सूत्रकार का तात्पर्य उस प्रकार के निरोध से है जिसके होने से अविद्या आदि क्लेश-राशि नष्ट होती हैं बुद्धि के लिये सात्विक निर्मल भाव की वृद्धि होती है और वह 'सहजावस्था' प्राप्त होती है जो वास्तविक चित्तवृत्ति-निरोध है। सूत्रकार ने इस प्रकार के योग (या समाधि) को दो प्रकार का बताया है, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। चित्त की एकाग्रता-वस्था में संप्रज्ञात समाधि होती है और पूर्ण निरोधावस्था में असंप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञात, समाधि में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध नहीं होता बल्कि ध्येय रूप में अवलंबित विषय को आश्रय करके चित्तवृत्ति उस समय भी वर्तमान रहती है परन्तु असंप्रज्ञात समाधि में सारी वृत्तियां निरुद्ध रहती हैं।

योगी को संप्रज्ञात समाधि के लिये तीन विषयों का अवलम्बन करना होता है:—(१) ग्रहीता, (२) ग्रहण और (३) ग्राह्य। ग्राह्य विषय दो प्रकार के होते हैं, स्थूल और सूक्ष्म; ग्रहण का अर्थ है इन्द्रिय और ग्रहीता से बुद्धि और आत्मा के उस अविविक्त भाव से तात्पर्य है जिसे 'अस्मिता' कहते हैं। तीरन्दाज जिस प्रकार स्थूल निशाने को साध कर क्रमशः सूक्ष्म निशाना साधने का अभ्यास करता है, उसी प्रकार योगी भी पहले स्थूल विषयों को और क्रमशः सूक्ष्म विषयों को ध्यान का आलंबन बनाता है। पहले वह (१) स्थूलग्राह्य अर्थात् पञ्चभूत फिर (२) सूक्ष्मग्राह्य अर्थात् पञ्चतन्मात्र, फिर (३) ग्रहण अर्थात् इन्द्रिय और फिर सब के अन्त में (४) अस्मिता को अवलंबन करके एकाग्रता की साधना करता है। इस प्रकार के भिन्नजातीय अवलंबनों के कारण सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की होती है जिसकी चर्चा आगे की जा रही है।

परन्तु इस प्रसंग में ध्यान में रखने की बात यह है कि परम्परा से यह विश्वास किया जाता रहा है कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद एक ही है और यद्यपि योगदर्शन के मूल सूत्रों से यह बात अब भी सिद्ध नहीं की जा सकी है तथापि व्याख्याकार लोग सांख्य के तत्त्ववाद को ही योग का तत्त्ववाद मानकर व्याख्या करते आये हैं। कभी कभी दोनों मतों में पार्थक्य भी बताया गया है। सांख्य ईश्वर को नहीं मानता और योग दर्शन मानता है इसलिये योग को सेश्वरसांख्य कहा जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ऐसे संप्रदाय भी हैं जो सांख्य के तत्त्ववाद को स्थूल मानते हैं और योग को भी दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं। जो हो, ऊपर जिस स्थूल सूक्ष्म, ग्राह्य और ग्रहण का प्रसङ्ग है, उसकी व्याख्या सब ने सांख्य के तत्त्ववाद

के अनुकूल ही की है। संक्षेप में, इसीलिये उस तत्त्ववाद की यहाँ चर्चा कर लेना ही उचित है।

सांख्य के मत से पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजाल में फँसाती है। पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक वह उसके जाल में फँसा रहता है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति, सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था का ही नाम है। सारे दृश्यमान जगत् को सांख्य शास्त्र प्रधानतः चार भागों में बाँटते हैं—(१) प्रकृति २) प्रकृति-विकृति (३) विकृति और (४) न प्रकृति न विकृति। चौथा पुरुष है। वह न प्रकृति ही है और न उसका विकार ही (सांख्य-कारिका ३)। बाकी तीन में प्रकृति तो अनादि ही है। पुरुष के साथ प्रकृति का जब संयोग होता है तो प्रकृति में विक्षोभ होता है, उसकी साम्यावस्था टूट जाती है, वह प्रकृति न होकर विकृति (= विकारशील) का रूप धारण करने लगती है। प्रकृति से महान् या बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है, उससे अहंकार और उससे पंचतन्मात्र (अर्थात् शब्द-तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रस-तन्मात्र, और गंध तन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो महान् या बुद्धि तत्व मूल प्रकृति का विकार है और दूसरी तरफ अहंकार की प्रकृति भी है। इसी प्रकार अहंकार और पंचतन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमशः महान् और अहंकार के विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंचतन्मात्र और पंच महाभूतों की प्रकृति भी हैं। इसीलिये सांख्य शास्त्री इन्हें (अर्थात् महान् अहंकार और पंचतन्मात्र, इन सात तत्त्वों को) 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। इनसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय (कान, त्वचा, आँख, रसना और नाक), पाँच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पाँव, जीभ, वायु और उपस्थ) ये दस इन्द्रिय मन और पाँच महाभूत (अर्थात् पृथ्वी जल, तेज, वायु और आकाश) उत्पन्न हुए हैं जो केवल विकृति हैं। इस प्रकार एक पुरुष, एक प्रकृति, सात प्रकृति-विकृतियाँ और १६ विकृतियाँ, कुल मिलाकर इन २५ तत्त्वों के प्रस्तार-विस्तार से यह सारी सृष्टि बनी है। योग में चित्त शब्द का व्यवहार अन्तःकरण के अर्थ में होता है। अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार। पुरुष (= आत्मा) स्वभावतः शुद्ध और निर्विकार है परन्तु अज्ञान के कारण अपने को चित्त से अभिन्न समझता है। किन्तु चित्त असल म प्रकृति का परिणाम होने के कारण जड़ है, चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण ही वह चेतन की भाँति जान पड़ता है।

एकाग्रता के समय चित्त की अवस्था विशुद्ध स्फटिक मणि के समान होती है। स्फटिक के सामने जो वस्तु भी हो वही उसमें प्रतिबिंबित होकर उसे अपने ही आकार का बना देती है। इसी प्रकार एकाग्रता की अवस्था में जो ध्येय वस्तु होती है वह चित्त में प्रतिबिंबित होकर चित्त को अपने ही तरह का बना देती है अर्थात् उस हालत में ध्येय वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता चित्त में नहीं रहती। योगशास्त्र में इस प्रकार अवलंबित विषय के रूप में चित्त के अनुरंजित या प्रतिबिंबित होने को 'समापत्ति' कहा जाता है। यह समापत्ति केवल संप्रज्ञात समाधि-निष्ठ चित्त की स्वाभाविक अवस्था या धर्म है। इसी के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि

चार प्रकार की होती है :— (१) स्थूल विषयों के अवलंबन से सिद्ध एकाग्रता को 'सवितर्क', (२) कुछ अधिक सूक्ष्म तन्मात्र आदि को अवलंबन करके साधित एकाग्रता को 'सविचार', (३) उससे भी अधिक सूक्ष्म इन्द्रिय रूप विषय को अवलंबन करके जो एकाग्रता सिद्ध होती है उसे 'सानंद' और (४) बुद्धि के साथ आत्मा को अभिन्नता-रूप भ्रान्ति—जिसे अस्मिता कहते हैं—को अवलंबन करके जो एकाग्रता प्राप्त होती है उसे 'सास्मित' कहते हैं (१.१७)। इन चारों प्रकार की अवस्थाओं में उस वस्तु के तत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है जिसे अवलंबन किया गया है या किया जा रहा है। एक का तत्त्व-साक्षात्कार किए बिना परवर्ती अवस्था में उचकना निषिद्ध है।

समुद्र में जिस प्रकार तरंगें उठा करती हैं उसी प्रकार चित्त में असंख्य वृत्तियाँ उठा करती हैं। शास्त्रकार ने उन्हें पाँच मोटे विभागों में बाँट कर समझाया है— (१) प्रमाण, (२) विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), (३) विकल्प, (४) निद्रा और (५) स्मृति, ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ राग, द्वेष और मोह से अनुविद्ध होती हैं इसलिये क्लेशकर हैं। इसीलिए मुमुक्षु व्यक्ति को इनका निरोध करना चाहिए। अभ्यास और वैराग्य से यह बात संभव है। साधारण अवस्था में पुरुष (=आत्मा) का प्रकृत स्वरूप यद्यपि निर्विकार ही रहता है तथापि वह मोहवश अपने वास्तविक रूप से परिचित नहीं होता और 'वृत्तिसारूप्यता' को प्राप्त होता है। अर्थात् चित्त की जो वृत्ति जिस समय उपस्थित रहती है पुरुष उस समय उसी को अपना स्वरूप समझ लेता है। कोई भी विषय चाहे वह बाह्य हो या आन्तर, जब तक चित्तवृत्ति का विषय नहीं हो जाता तब तक पुरुष उसे ग्रहण नहीं कर सकता, और मुग्ध होने के कारण वह उन वृत्तियों से अपनी पृथक् सत्ता को अनुभव नहीं कर पाता। वैराग्य और दीर्घ अभ्यास के बाद वह अपने आपके स्वरूप को पहचानता है।

संप्रज्ञात समाधि में ध्येय-विषयक वृत्तियाँ चित्त में वर्तमान रहती हैं और बराबर ही अपने अनुरूप संस्कार-प्रवाह को उत्पन्न करती रहती हैं। असंप्रज्ञात समाधि में ऐसी कोई वृत्ति नहीं रहती। हृदय में पुनः पुनः वैराग्य के अनुशीलन से समस्त चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। भगवान् ने गीता में कहा है कि यद्यपि चंचल मन का वश करना कठिन है तथापि अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष सुख और आनुश्रविक अर्थात् केवल शास्त्र से जाने जानेवाले स्वर्गादि सुख—इन दोनों प्रकार की भोगाभिलाषा की निवृत्ति को 'वैराग्य' कहते हैं। यह वैराग्य दो प्रकार का होता है—अपर-वैराग्य और पर वैराग्य। अपर वैराग्य की चार सीढ़ियाँ हैं—(१) राग और द्वेषवश जो इंद्रियचाञ्चल्य होता है उसे रोकने की चेष्टा (यतमान संज्ञा) (२) राग और विराग के विषयों को अलग ठीक करना (व्यतिरेक संज्ञा), (३) इन्द्रिय निवृत्ति के बाद केवल मन द्वारा विषयों की चिन्ता (एकेन्द्रिय संज्ञा) और अन्त में (४) मानसिक उत्सुकता को भी वश में करना (वशीकार संज्ञा)। संप्रज्ञात समाधि तक तो इस प्रकार के वैराग्य से ही प्राप्त हो जाती है। किन्तु वैराग्य की उत्कृष्ट अवस्था वह है (पर वैराग्य) जब द्रष्टा पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि समस्त तत्त्वों से अपने को पृथक् समझ लेता है और समस्त त्रिगुणात्मक विषयों के उपभोग से वितृष्ण

हो जाता है। इसी 'पर वैराग्य' के अनुशीलन से असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। यह समाधि चूंकि संप्रज्ञात समाधिकालीन ध्येय विषयक चिन्ता के विराम के कारण प्रत्यय (=पर वैराग्य) के पुनः पुनः अनुशीलन या अभ्यास से होती है इसलिये सूत्रकार ने इसे 'विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्व' कहा है। इसमें चित्तवृत्तियाँ तो निरुद्ध हो जाती हैं पर संस्कार फिर भी बच रहता है। बहुत दीर्घकाल तक बने रहने के बाद इन संस्कारों की कोई उद्बोधक सामग्री न मिलने से वे भी समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये असंप्रज्ञात समाधि को निरोध समाधि और निर्बीज समाधि भी कहते हैं। ऐसे भी योगी हैं जो ज्ञान का सम्यक् उद्रेक न होने के कारण प्रकृति, महान् या अहंकार को ही आत्मा मानकर निरोध समाधि का अभ्यास करते हैं। उनकी समाधि को 'भवप्रत्यय' नाम दिया गया है। इसमें भ्रान्ति बनी रहती है इससे इसमें कैवल्यज्ञान (अर्थात् पुरुष या आत्मा का केवल पुरुष रूप में ही अवस्थान-रूप ज्ञान) नहीं होता। असंप्रज्ञात समाधि के उत्कृष्ट उपाय हैं, श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृति और योगांग। इन उपायों के द्वारा जो समाधि होती है वही 'उपाय प्रत्यय' कही गई है। इस असंप्रज्ञात समाधि की पूर्णता की अवस्था में द्रष्टा अर्थात् पुरुष (आत्मा) 'केवल' स्वरूप में अवस्थान करता है। यही कैवल्य-प्राप्ति है।

सूत्रकार ने इस अवस्था की प्राप्ति के लिये एक और भी उपाय बताया है। ईश्वर-प्रणिधान या ईश्वर में मन लगाना (१-२३)। साधारण जीवों में जो पांच प्रकार के क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) होते हैं; जो दो प्रकार के कर्म (धर्म और अधर्म) होते हैं; जो तीन प्रकार के विपाक (जन्म, आयु, और भोग) होते हैं और जो पूर्वतक संस्कार होते हैं (आशय) उनसे ईश्वर रहित है। वह सर्वज्ञ है और इसीलिये अन्यान्य पुरुषों से विशेष है। अर्थात् साधारण पुरुष अविद्यादि क्लेशों के अधीन हैं, जन्म मरण के चक्र में पड़े हुए हैं, पाप-पुण्य (धर्म-अधर्म) के वशवर्ती हैं और पूर्व-संचित वासनाओं के दास हैं। ईश्वर इनसे भिन्न अनन्त ज्ञान का आकर, दोषहीन, क्लेशशून्य, नित्यशुद्ध और नित्यमुक्त है। इसी ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव या ओंकार है। इसके नाम के जप और नामी (ईश्वर) की चिन्ता करने से साधक का चित्त एकाग्र होता है और उसे आत्मसाक्षात्कार भी प्राप्त होता है। फिर उसके विघ्न भी दूर होते हैं। योग साधक के अनेक विघ्न होते हैं। उसे व्याधि हो सकती है जिससे शरीर रुग्ण होकर मन पर भी असर डाल सकता है, उसके चित्त मे अकर्मण्यता या जड़ता आ सकती है (स्त्यान), योग के विषय में सन्देह उपस्थित हो सकता है (संशय), प्रमाद और आलस्य हो सकते हैं, विषय भोग की तृष्णा पैदा हो सकती है (अविरति) विपरीत ज्ञान (भ्रान्तिदर्शन) हो सकता है, समाधि के अनुकूल चित्त की जो अवस्था होती है उसका अभाव हो सकता है (अलब्धभूमिकत्व), फिर ऐसा भी हो सकता है कि समाधि के अनुकूल अवस्था तो सुलभ हो गई पर मन उस समय स्थिर नहीं हो सका। इन बातों से चित्त विक्षिप्त हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से इन विघ्नों की संभावना दूर हो जाती है। शास्त्रकार ने चित्त विशोधन के और भी कई उपाय बताए हैं, उनमें अभिमत वस्तु का ध्यान उल्लेख्य है (१-३९)। यहाँ तक सूत्रकार ने ज्ञान पर ही जोर दिया है। इस

'पाद' या चरण में साधारण रूप से समाधि की बात ही होने के कारण उन्होंने इसका नाम 'समाधिपाद' दिया है।

दूसरे पाद का नाम है साधनपाद या क्रियायोग। क्रियायोग अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इस क्रियायोग के दो उद्देश्य बताए गए हैं—समाधि-भावना और क्लेशों को क्षीण करना (क्लेशतनूकरण)। समाधि को हम पहले ही समझ आए हैं, क्लेश पाँच प्रकार के हैं, (१) अविद्या अर्थात् अनित्यज्ञान-जो अनित्य है उसे नित्य समझना, जो जड़ है उसे चेतन समझना और जो अनात्मा है उसे आत्मा समझना; (२) अस्मिता अर्थात् अहंकार बुद्धि और आत्मा को एक ही मान लेना; (३) राग अर्थात् सुख और उसके साधनों की ओर खिंचाव; (४) द्वेष अर्थात् दुःख और दुःखजनक वस्तुओं के प्रति हिंसा वृत्ति और (५) अभिनिवेश अर्थात् नाना जन्मों के संस्कार वश मरणादि से त्रास। ये पाँचों क्लेश हैं पर अन्तिम चार की उत्पत्ति का कारण अविद्या ही है। ये अन्तिम चार प्रकार के क्लेश प्रसुप्त क्षीण विच्छिन्न या उदार अवस्थाओं में से किसी एक में ही एक समय रह सकते हैं। उदाहरणार्थ, शैशवावस्था में राग सुप्त रहता है, क्रोधावस्था में विच्छिन्न रहता है, रागविरोधी विचारों के समय क्षीण रहता है और उपयुक्त अवसर पर प्रबुद्ध या उदार होकर रह सकता है। अब, ये चारों क्लेश जिस अवस्था में भी क्यों न हों उनका मूल कारण अविद्या या गलत ज्ञान ही है। क्रियायोग की सहायता से योगी इन क्लेशों को क्षीण करता है और क्रमशः आगे बढ़कर प्रसंख्यान अर्थात् ध्यान रूप अग्नि से उन्हें भस्म कर देता है। यह उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर प्रथम उद्देश्य—समाधिभावना—सहज ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि जितने भी कर्म आशाय और विपाक हैं वे सभी क्लेशमूलक हैं और क्लेशों के उच्छेद होने से उनका उच्छेद अपने आप हो जाता है।

योगदर्शन संपूर्ण शास्त्रार्थ को चार भागों में विभक्त करता है—हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। दुःख और दुःख जनक पदार्थ हेय हैं और चूँकि अविद्या ही इस हेय वस्तु को जीव के सामने उपस्थित करती है और जीव गलती से उन्हें भोग्य और अपने को उनका भोक्ता समझ कर उलझ जाता है इसलिये यह जो भोग्य-भोक्ता-भाव रूप संयोग है वही हेय-हेतु है। स्पष्ट ही अविद्या के कारण यह संयोग संभव होता है; इसलिये वास्तविक हेयहेतु तो अविद्या ही है और विवेक ज्ञान ही इस हेयहेतु के ज्ञान का उपाय है क्योंकि उसी से आत्मा और अनात्मा का पार्थक्य ठीक ठीक उपलब्ध होता है और अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-हान है। यही योग का चरम लक्ष्य है, यही कैवल्य है।

जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाती तब तक योगांगों के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है (२ २८)। ये आठ हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, तथा धारणा, ध्यान और समाधि; प्रथम पाँच बाह्य हैं और अन्तिम तीन आन्तर। संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है।

(१) यम, बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्ति-संकोचन) को कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (=चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी

से कुछ न लेना) ये पाँच यम हैं। इन यमों (=संयमों) की विपरीत क्रियाओं–हिंसा, असत्य स्तेय, वीर्यक्षय, परिग्रह—को वितर्क कहते हैं इनका फल दुःख और अज्ञान है। (२) वितर्कों के दमन और संयमों की उपलब्धि के लिये शास्त्रकार ने पाँच प्रकार के नियम बताए हैं–शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। (३) योग साधन के लिये नाना प्रकार के आसन उपयोगी बताए गए हैं। आसन अर्थात् हाथ पैर आदि का विशेष ढंग से सन्निवेश। परवर्ती योगग्रंथों में आसनों की अनेक संख्यायें बताई गई हैं परन्तु पातञ्जल दर्शन ने स्थिर और सुखकर आसन (२।४६) को ही योग-साधन का प्रकृष्ट उपाय बताया है। (४) श्वास को भीतर भरना (पूरक), उसे देर तक भीतर ही आबद्ध रखना (कुम्भक) और फिर बाहर निकालना (रेचक) प्राणायाम कहा जाता है। प्राण अर्थात् वायु के संयमन से मन का संयमन सहज होता है। (५) शब्दादि बाह्य व्यापारों से कान प्रभृति इन्द्रियों को हटा कर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना होता है। उस अवस्था में बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई संपर्क नहीं होने से चित्त का संपूर्ण रूप से अनुकरण करते हैं, इन्द्रियों की इस प्रकार की अवस्था का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इससे इन्द्रियों को वश में करना संभव होता है।

इन पाँच योगांगों की चर्चा करने के बाद-सूत्रकार ने दूसरा पाद समाप्त कर दिया है। बाकी तीन योगांगों का वर्णन विभूतिपाद नामक तीसरे पाद में किया है। ये पांच बहिरंग साधन हैं क्यों कि कार्य सिद्धि से इनका बाहरी संबंध है। परन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांग साक्षात्संबंध से कार्य सिद्धि के हेतु हैं, इसलिये अन्तरंग साधन कहे गए हैं। इन तीनों को एक ही नाम 'संयम' दिया गया है। तीनों को एक ही साथ नाम देने का अभिप्राय यह है कि ये तीनों जब एक ही विषय को आश्रय करके होते हैं तभी योगांग होते हैं, अन्यथा नहीं। एक विषय की धारणा, दूसरे का ध्यान और तीसरे की समाधि को योग नहीं कह सकते। सो, नाना विषयों में विक्षिप्त चित्त को बल-पूर्वक किसी एक ही वस्तु (जैसे श्रीकृष्ण की मूर्ति) पर बांधने को 'धारणा' कहते हैं; धारणा से चित्त जब कुछ स्थिर हो जाता है तो उस विषय की एकाकार चिन्ता (=प्रत्ययैकतानता) को 'ध्यान' कहते हैं (३.२) और यह ध्यान जब निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूप-शून्य-सा होकर ध्येय विषय के आकार में आभासित होता है (अर्थ-मात्र-निर्भासम्) तो समाधि कहा जाता है (३।३)। प्रथम पाद में जिस संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि की चर्चा हुई है वह समाधि इस से भिन्न है। वह साध्य है, यह साधन है; वह फल है, यह उपाय है। उस स्थूलग्राह्य, सूक्ष्मग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता भेद से अवलम्बित समाधि की अवस्था में 'संयम' (ध्यान-धारणा-समाधि) का विनियोग करना होता है। जहाँ तक संप्रज्ञात समाधि का संबंध है वहीं तक योग के आठ अंगों में से पांच बहिरंग हैं और तीन अन्तरंग। असंप्रज्ञात समाधि के लिये तो आठों ही बहिरंग हैं। जब मनुष्य समाधि की दशा में नहीं होता, अर्थात् जब वह व्युत्थान दशा में होता है, तो उस समय दर्शन श्रवण आदि के द्वारा जिन विषयों का अनुभव करता है वे स्वयं नष्ट होने के बाद भी अपना संस्कार छोड़ जाते हैं और इसीलिये वे संस्कार निरन्तर स्मृति उत्पन्न करते रहते हैं। व्युत्थान अवस्था की भाँति समाधि अवस्था में भी संस्कार रहते ही हैं।

संप्रज्ञात समाधि की अवस्था में यद्यपि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं तथापि संस्कार रहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध से भी एक प्रकार का संस्कार पैदा होता है। व्युत्थान दशा वाले संस्कारों को 'व्युत्थानज' और निरोध दशा वाले संस्कारों को 'निरोधज' कहते हैं। इन दोनों का द्वन्द्व जारी रहता है, जो प्रबल होता है वही विजयी होता है। दीर्घ साधना के बाद साधक के निरोधज संस्कार प्रबल होकर व्युत्थानज संस्कारों को दबा पाते हैं। इस अवस्था को ग्रंथकार ने 'निरोध परिणाम' कहा है (३.९) यहां आकर योगी को नाना भाँति की बिभूतियाँ प्राप्त होती हैं। स्वर्ग के देवतागण उसे नाना भाव से प्रलुब्ध करते हैं। कच्चे योगी इससे भटक जाते हैं पर सच्चे योगी विचलित नहीं होते। वे उन विभूतियों के दर्शन से विस्मित भी नहीं होते, चंचल भी नहीं होते, और प्रलुब्ध भी नहीं होते। तीसरा पाद यहीं समाप्त होता है।

कैवल्यपाद के आरंभ में ही सूत्रकार ने पांच प्रकार की सिद्धियां बताई हैं। (१) पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण कुछ लोग कुछ विशेष सिद्धियाँ जन्म से लेकर ही पैदा होते हैं; फिर (२) रसायनादि औषधों की सहायता से भी अनेक प्रकार की सिद्धियां मिल जाती हैं। (३) ऐसा भी होता है कि यंत्रबल से आकाशगमन प्रभृति सिद्धियां उपलब्ध हो जाती हैं; फिर (४) तपस्या से भी सिद्धिलाभ संभव है पर वास्तविक और परम सिद्धि तो (५) समाधि से कैवल्यप्राप्ति ही है। बाकी सिद्धियों से लोकप्रतिष्ठा चाहे जितनी मिले वे अधिकतर कैवल्यप्राप्ति में बाधक ही होती हैं। समाधि से समस्त अनागत (अर्थात् भावी) कर्म दग्धबीज की भांति निर्वीर्य और निष्फल हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध कर्म बचे रह जाते हैं। कभी कभी योगी लोग योगबल से अनेक कायाओं का निर्माण करके प्रारब्ध कर्म को शीघ्र ही भोग लेते हैं और उससे छुटकारा पा जाते हैं। ऐसा करने से आत्मा का जो बुद्धि से पार्थक्य है उस विषय में योगी और भी दृढ़ विश्वासपरायण हो जाते हैं; फिर तो योगी का आत्मा स्वतः ही विवेक की ओर उन्मुख होकर कैवल्य की ओर धावित होता है। वह समस्त इच्छाओं से—यहां तक कि परम अभिलषित विवेकख्याति से भी—विरत हो जाता है। उस हालत में वह धर्ममेघ नामक समाधि को प्राप्त होता है सूत्रकार ने कहा है कि 'प्रसंख्यान' (=प्रकृति और पुरुष का विवेक-साक्षात्कार) के प्रति भी जब उसका आदरभाव नहीं होता तब उसे वह 'धर्ममेघ' समाधि प्राप्त होती है जो विवेकख्याति का परम फल है (४.२९)। उस समय केवल निरवच्छिन्न तत्त्व-साक्षात्कार रूपी धर्ममेघ की धारासार वर्षा होती रहती है और योगी समस्त क्लेशों और कर्मों से निवृत्त हो गया रहता है। उस समय त्रिगुणात्मिका प्रकृति के जो कर्तव्य प्रत्येक पुरुष (आत्मा) के लिये निर्दिष्ट होते

हैं वे—भुक्ति और मुक्ति—समाप्त हो जाते हैं और पुरुष विशुद्ध स्वरूप (केवल-भाव) में अवस्थित हो जाता है। पुरुष के प्रति दोनों प्रकार के करणीय कर्म सिद्ध हो जाने से प्रकृति भी कृतकृत्य हो जाती है और अनादि काल का लिंग शरीर[1] चूंकि प्रकृति का परिणाम होता है, इसलिये वह भी विरत हो जाता है और सारा सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर) तत्तद् उपादानों में लीन हो जाता है। यही योग का परम प्रतिपाद्य है।

---

१. सांख्यकारिका (४०) में बताया गया है कि प्रकृति के विकारस्वरूप तेईस तत्त्वों में अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं परन्तु बाकी अठारहों तत्त्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किए बिनाही मरता रहता है तब तक ये तत्त्व उसके साथ साथ लगे रहते हैं। इन अठारह तत्त्वों में से प्रथम तेरह (अर्थात् बुद्धि अहंकार मन और दसों इन्द्रिय) तो प्रकृति के गुण मात्र हैं, उनकी स्थिति के लिये किसी ठोस आधार की जरूरत होती है। बिना आधार वे रह नहीं सकते, वस्तुतः पंचतन्मात्रों को जो मृत्यु के समय आत्मा का अनुसरण करते बताया गया है वह इसी लिये कि ये तन्मात्र उक्त तरह तत्त्वों को वहन करने का सामर्थ्य रखते हैं। ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जब तक मनुष्य जीता होता है तब तक तो इन गुणों को उसका स्थूल शरीर आश्रय किए होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंच तन्मात्र ही इन गुणों के वाहक होते हैं (सांख्यकारिका ४१)। इस प्रकार शास्त्रकार का सिद्धान्त है कि मृत्यु के बाद पुरुष या आत्मा के साथ ही साथ एक लिंग-शरीर जाता है जो समस्त कर्मफलात्मक संस्कारों को साथ ले जाता है। इस लिंग-शरीर में जिन अठारह तत्त्वों का समावेश है उसमें बुद्धितत्त्व ही प्रधान है। वेदान्ती लोग जिसे कर्म कहते हैं, उसीको सांख्य लोग बुद्धि का व्यापार, धर्म या विकार कहते हैं। इसीको सांख्यकारिका में 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूल में गंध और कपड़े में रंग लगा रहता है उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग शरीर में लगा रहता है (सां० का० ४२।

११

गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग

(१) हठयोग

गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग का उपदेश दिया है वह पुरानी परंपरा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। शास्त्रग्रंथों में हठयोग साधारणतः प्राण-निरोध-प्रधान साधना को ही कहते हैं। सि द्ध सि द्धा न्त प द्ध ति में 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ चंद्र। सूर्य और चंद्र के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं---

> हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते।
> सूर्याचंद्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

इस श्लोक की कही हुई बात की व्याख्या नाना भाव से हो सकती है। ब्रह्मानंद के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चंद्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते हैं और चंद्र पिंगला को (हठ० ३·१५)। इसलिये इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्णा मार्ग से प्राण वायु के संचारित करने को भी हठयोग कहते हैं। इस हठयोग को 'हठसिद्धि' देने वाला कहा गया है।[1] वस्तुतः हठयोग का मूल अर्थ यही जान पड़ता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाता था जिस से हठात् सिद्धि मिल जाने की आशा की जाती थी। 'हठयोग' शब्द का शायद सबसे पुराना उल्लेख गु ह्य स मा ज में आता है, वहाँ बोधिप्राप्ति की विधि बता लेने के बाद आचार्य ने बताया है कि यदि ऐसा करने पर भी बोधि प्राप्ति न हो तो 'हठयोग' का आश्रय लेना चाहिए।[2]

यो ग स्व रो द य में हठयोग के दो भेद बताए गए हैं। प्रथम में आसन, प्राणायाम तथा धौति आदि षट्कर्म का विधान है। इनसे नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। शुद्ध नाड़ी में पूरित वायु मन को निश्चल करता है और फिर परम आनंद की प्राप्ति होती है। दूसरे भेद में बताया गया है कि नासिका के अग्र भाग में दृष्टि निबद्ध करके आकाश में कोटि सूर्य के प्रकाश को स्मरण करना चाहिए और श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण रंगों का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से साधक चिरायु होता है और हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है। इस योग को इसीलिये हठयोग कहा गया है। यह सिद्धसेवित मार्ग है।[3]

---

१. प्रा ण तो षि णी : पृ० ८३५

२. दर्शने तु कृतेऽप्येवं साधकस्य न जायते।
यदा न सिद्ध्यते बोधिर्हठयोगेन साधयेत्॥

३. हठाज्ज्योतिर्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्।
अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः।

—प्रा ण तो षि णी, पृ० ८३५

कहते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ हैं—एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्ती जिसका उपदेश मृकण्डुपुत्र (मार्कण्डेय) आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट[1]। प्रधान भेद यह बताया जाता है कि पहली उन सभी आठ अंगों को स्वीकार करती है जिन्हें पातंजल योग के प्रसंग में हम देख आए हैं और दूसरी केवल अन्तिम छः अंगों को[2], परन्तु यह भेद बहुत अधिक मान्य नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों में अष्टांग योग की भी बात आती है और षडंग योग की भी। गोरक्षशतक में षडंगयोग की बात है[3] और सिद्ध सिद्धान्त संग्रह में अष्टांग योग की[3]।

हठयोग का अभ्यासी शरीर की बनावट से अपरिचित रह कर सिद्धि नहीं पा सकता। मेरुदण्ड जहाँ सीधे आकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर सर्पिणी की भांति कुण्डली अवस्थित है। यह कभी कभी आठ वलयों में लपेटकर सोई हुई भी बताई गई है (गो०प०१, ४७)। यह ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी रूपी शक्ति का ही व्यष्टि में व्यक्त रूप है। यह शक्ति ही है जो ब्रह्मद्वार को रोध करके सोई हुई है[4]। इसे जगाकर शिव से सम-रस कराना योगी का चरम लक्ष्य है। अन्यान्य विधियों से भी मोक्ष प्राप्त किया जाता है, परन्तु चाभी से जिस प्रकार ताला हठात् खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डली के उद्बोधन से हठात् मोक्षद्वार अनायास ही खुल जाता है[5]। हठात् मोक्षद्वार खोलने की विधि बताने के कारण भी इस योग को 'हठ योग' कहते हैं। इस कुण्डली-उद्बोध की कई विधियाँ हो सकती हैं।

शरीर में तीन ऐसी चीजें हैं जो परम शक्तिशाली हैं पर चंचल होने के कारण वे मनुष्यों के काम नहीं आ रहीं। पहली और प्रधान वस्तु है (१) बिंदु अर्थात् शुक्र। इसको यदि ऊपर की ओर उठाया जा सके तो बाकी दो भी स्थिर होते हैं। बाकी दो हैं, (२) वायु और (३) मन। हठयोगी का सिद्धान्त है कि इन में से किसी एक को भी यदि वश में कर लिया जाय तो दूसरे दो स्वयमेव वश में हो जाते हैं। एक एक पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है। यहाँ इतना और कह रखना उचित है कि कभी कभी एक चौथी वस्तु की भी चर्चा शास्त्र में आ जाती है। वह है, वाक् या वाणी।

---

१. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥

२. स० भ० स्ट० भाग ६ में म० म० पं० गोपीनाथ कविराज का लेख देखिए।

३. गो० श० : १।७; सि० सि० सं० : २।४१

४. येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥

—गो० श० १४८

५. उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥ —वही १।५१

अ म रौ घ शा स न में (पृ० ७) लिखा है कि मेरुदण्ड के मूल में सूर्य और चंद्र के बीच योनि में स्वयंभू लिंग है जिसे पश्चिम लिंग कहते हैं। यही पुरुषों के शुक्र और स्त्रियों के रजः स्खलन का मार्ग है। यहीं काम, विषहर और निरंजन का स्थान है। वीर्य स्खलन की दो अवस्थाएं होती हैं। इन दोनों के पारिभाषिक नाम प्रलयकाल और विषकाल हैं। इन दो अवस्थाओं में जो आनंद होता है वह घातक है एक का अधिष्ठाता काम है और दूसरी का विषहर। तीसरी अवस्था नानाभाव-विनिर्मुक्त सहजानंद की अवस्था है, इसमें बिंदु ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर उठता है तब यह सहज समाधि प्राप्त होती है जिसमें मन और प्राण अचंचल हो जाते हैं।[1] ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा इस बिंदु को स्थिर और ऊर्ध्वमुख किया जा सकता है परन्तु इसके लिये आवश्यक है कि नाड़ियों को शुद्ध किया जाय। हठयोगी षट् कर्म के द्वारा यही कार्य करता है। इन शुद्धि की क्रियाओं का साधनग्रंथों में विस्तृत रूप से उल्लेख है। इनमें धौति है, बस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है—इन्हीं को षट्कर्म कहते हैं। नाड़ी के शुद्ध होने से बिंदु स्थिर होता है, सुषुम्ना का मार्ग साफ हो जाता है, प्राण और मन क्रमशः अचंचल होते हैं और प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रार चक्र में स्थित शिव के साथ समरस हो जाती हैं और योगी चरम प्राप्तव्य पा जाता है। इस क्रिया के लिये ही योगी लोग उस वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करते हैं जिसमें नाना विधियों से पुरुष स्त्री के रज को और स्त्री पुरुष के शुक्र को आकर्षण करके ऊर्ध्वमुख करती है।[2] यद्यपि यह साधना नाथमार्ग में प्रक्षिप्त जान पड़ती है पर अपने पारमार्थिक अर्थ में यह इस मार्ग में स्वीकृत थी। सि द्ध सि द्धा न्त सं ग्र ह में एक संदिग्ध श्लोक है जो इस साधना के प्रकाश में कुछ स्पष्ट हो जाता है।[3] इसमें

---

१. इस प्रसंग में अ म रौ घ शा स न में निम्नलिखित श्लोक हैं जिनमें वज्रयानी साधकों के पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार जान पड़ता है। इन शब्दों के सांवृतिक और पारमार्थिक अर्थ की बात हम कृष्णपाद (कानिपा) के प्रसंग में जान चुके हैं—

> शक्तित्रयविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरंजनात्।
> वज्रपूजापदानंदं यः करोति स मन्मथ ॥
> चित्ते तृप्ते मनोमुक्ति रूर्ध्वमार्गाश्रितेऽ-त्ते
> उदानचलितं रेतो मृत्युरेखाविषं बिदुः ॥
> चित्तमध्ये भवेद्वस्तु बालाग्रशतधाश्रये।
> नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो निरंजन. ॥

—अ० शा० पृ० ८

२. गो० प०: (पृ० ४३-५५)

३. संकोचनेन मणिकाय पात्र तुर्ये दण्डध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम्।
वज्रोदरे सगतिबंधनमेदिदर्पा भृंगस्य चेद्विदुदिरे (?) खलु बिंदुबंधः ॥
एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥
ज्ञानादेव भवेद्यस्याः सिद्धमार्ग प्रकाशितः ॥ सि० सि० सं० २।१७-१८

स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसके ज्ञानमात्र से सिद्ध मार्ग प्रकाशित हो जाता है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ है कि केवल पारमार्थिक अर्थ में ही यह सिद्धमार्ग में गृहीत है।

नाड़ीशुद्धि होने के बाद प्राणादि वायुओं का शमन सहज हो जाता है। नाना प्रकार के आसनों और प्राणायामों से सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है। नाड़ियों को प्रधानतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। दक्षिणाङ्ग में व्याप्त नाड़ियाँ सूर्य का अंश हैं और वाम भाग वाली चंद्रमा के अंश। इन दोनों के बीच सुषुम्ना है। जब नाना भाँति के अभ्यास से योगी चंद्र और सूर्य मार्गों को बंद कर देता है और उनमें बहने वाली वायु शक्तिसंभिन्न होकर योनिकंद के मूल में स्थित सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही ऊर्ध्वमुख होती है। प्राणायाम से कुण्डलिनी का उद्बोध सुकर हो जाता है।[1]

यह कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होती है तो प्राण स्थिर हो जाता है और साधक शून्य पथ में निरंतर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नाद को सुनने लगता है, जो अखण्ड रूप से निखिल ब्रह्माण्ड में निरन्तर ध्वनित हो रहा है। अनुभवी लोगों ने बताया है (ह० ४-८३-८४) कि पहले तो शरीर के भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जन और भेरी झर्झर आदि का-सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शंख, घंटा और काहल की सी आवाज सुनाई देती है, और अन्त में किंकिणी, वंशी और वीणा की झंकार सुनाई देने लगती है। परन्तु ज्यों ज्यों साधक का चित्त स्थिर होता जाता है त्यों त्यों इन शब्दों का सुनाई देना बंद होता जाता है, क्योंकि उस समय आत्मा अपने स्वरूप में क्रमशः स्थिर होता जाता है और फिर तो बाह्य विषयों से उसका सरोकार नहीं रह जाता।

इस प्रकार हठयोगी प्राण वायु का निरोध करके कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करता है। उद्बुद्ध कुण्डली क्रमशः षट्चक्रों को भेद करती हुई सातवें अन्तिम चक्र सहस्रार में शिव से मिलती है। प्राण वायु ही इस उद्बोध और शक्ति संगमन का हेतु है इसलिये हठयोग में प्राण-निरोध का बड़ा महत्त्व है। षट् चक्रों के विषय में हम पहले संक्षेप में कह आए हैं। यहाँ भी उसका थोड़ा उल्लेख कर देना उचित है।

---

१. मूलकन्दोदयतो वायुः सोमसूर्यपथोद्भवः।
शक्त्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः ॥१॥
मूलकन्दे तु या शक्तिः कुण्डलाकाररूपिणी।
उद्गमावर्तवातोऽयं प्राण इत्युच्यते बुधैः ॥२॥
कंदुदण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजङ्गिनी
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्ति प्राणैरेव व्यवस्थिता ॥३॥

— अमरौघ० पृ० ११

अमरौघशासन में तीन श्लोक इसी प्रकार छपे हुए हैं; परन्तु जान पड़ता है किसी कारणवश तीसरी पंक्ति उलटी छप गई है। उसे यदि चौथी पंक्ति मान लिया जाय और चौथी को तीसरी तो अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। प्रथम तीन पंक्तियाँ प्राण की व्याख्या हैं और अन्तिम तीन पंक्तियाँ कुंडली की।

ऊपर जिस त्रिकोण चक्र की बात कही गई है उसके ऊपर चारदलों के आकार का एक चक्र है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं, उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जिसका आकार छः दलों के कमल का है, इस चक्र के ऊपर मणिपूर चक्र है और उसके भी ऊपर हृदय के पास अनाहत चक्र। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पद्मों के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कंठ के पास विशुद्ध नाम चक्र है जिसका आकार सोलह दल के पद्म के समान है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं। इनमें सब के दलों की संयुक्त संख्या पचास है और यही समस्त स्वर और व्यंजनों की मिलित संख्या भी है। प्रत्येक दल पर एक एक अक्षर की कल्पना की गई है, प्रत्येक कमल की कर्णिका में कोई न कोई देवता और शक्ति निवास करती हैं। यह सब बातें साधकों के काम की हैं। इस अध्ययन में उनका विशेष प्रयोजन नहीं है। फिर भी अन्यान्य साधनाओं से तुलना करने के लिये और इस मार्ग के तत्त्ववाद को समझने के लिये पाठकों को इस की आवश्यकता हो भी सकती है यही सोचकर एक सारणी नीचे दी जा रही है जिससे सारी बातों का खुलासा हो जायगा। इन षट्चक्रों को भेद करने के बाद मस्तिष्क में वह शून्य चक्र मिलता है जहां उद्बुद्ध कुण्डली को पहुँचा देना योगी का लक्ष्य है। यह सहस्रदलों के कमल के आकार का है, इसीलिये इसे सहस्रार भी कहते हैं। यही इस पिण्ड का कैलाश है, यहीं पर शिव का निवास है[१]। इस महातीर्थ तक ले जाने वाली नाड़ी सुषुम्णा को इसीलिये शांभवी शक्ति कहा जाता है; क्योंकि वैसे तो प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियों की संख्या ७२ हजार है पर असल में यह शांभवी शक्ति सुषुम्णा ही सार्थक है; बाकी सब तो निरर्थक हैं।[२] इस प्रकार यह ठीक ही कहा गया है कि हठयोग असल में प्राण-वायु के निरोध को कहते हैं और राजयोग मन के निरोध को।

किन्तु योगशिखोपनिषद् में राजयोग अन्यभाव से वर्णित है। उक्त उपनिषद् में भी चार प्रकार के योग कहे गये हैं मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इनमें हमारा प्रकृत विषय हठयोग है। मंत्रयोग में कहा गया है कि जीव के निश्वास-प्रश्वास में ह और स वर्ण उच्चरित होते हैं। 'ह'कार के साथ प्राणवायु बाहर आता है और सकार के साथ भीतर जाता है इस प्रकार जीव सहज ही 'हं-सः' इस मंत्र का जप करता रहता है। गुरुवाक्य जान लेने पर सुषुम्णा मार्ग में यही

---

१. अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा
कैलाशोनाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।

—सि० ५.१५१-१५२

२. द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे
सुषुम्णा शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः॥

—ह० ५/१८

षट्-चक्र

चक्र	स्थान	दल-संख्या	वर्ण	तत्त्व और गुण	तत्त्व का रंग	मंडल का आकार	बीज और वाहन	देवता और वाहन	धातु-शक्ति	लिंग और योनि	अन्यन्यतत्त्व और इंद्रिय	पीठ
१. मूलाधार	रीढ़ के अधोभाग में पायु और मुष्क मूल के मध्य	४	व, श, ष, स	पृथ्वी आकर्षण गंध	पीत	वर्गाकार	लं ऐरावत	ब्रह्मा, हंस	डाकिनी	स्वयंभू, त्रैपुर त्रिकोण	गंधतत्त्व घ्राणेन्द्रिय पैर	कामाख्या
२. स्वाधिष्ठान	मेरुदण्ड में मेढ्र के ऊपर	६	ब भ म य र ल	जल, संकोचन रस	श्वेत	अर्द्ध चंद्र	व मकर	विष्णु गरुड़	राकिनी	...	रसतत्त्व रसना हाथ	
३. मणिपूर	मेरुदण्ड में नाभि के पास	१०	ड ढ ण त थ द ध न प फ	तेज प्रसरण रूप	लाल	त्रिभुज	रं मेष	रुद्र, वृषभ	लाकिनी	...	रूपतत्त्व, चक्षु, पायु	
४. अनाहत	हृदय के पास	१२	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ	वायु गति स्पर्श	धूम्र	षट् कोण	य कृष्ण-मृग	ईश	काकिनी	बाण, त्रिकोण	स्पर्श, त्वचा, उपस्थ	पूर्णगिरि
५. विशुद्धाख्य	कंठ के पास	१६	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः	आकाश अवकाश शब्द	श्वेत	वृत्त	ह श्वेत हस्ती	सदाशिव	शाकिनी		शब्द कान वाक्	जालंधर
६. आज्ञा	भ्रुवों के बीच में	२	ह क्ष	मन	×	×	ओं	शंभु	हाकिनी	इतर, त्रिकोण	महत्, सूक्ष्मप्रकृति (हिरण्यगर्भ)	उड्डियान

मंत्र उल्टी दिशा में उच्चरित हो 'सोऽहं' हो जाता है और इस प्रकार योगी 'वह' (सः) के साथ 'मैं' (अहम्) का अभेद अनुभव करने लगता है। इसी मंत्रयोग के सिद्ध होने पर हठयोग के प्रति विश्वास पैदा होता है। इस हठयोग में हकार सूर्य का वाचक है और सकार चन्द्रमा का। इन दोनों का योग ही हठ योग है। हठ योग से जड़िमा नष्ट होती है। और आत्मा परमात्मा का अभेद सिद्ध होता है। इसके बाद वह लय योग शुरू होता है जिसमें पवन स्थिर हो जाता है और आत्मानन्द का सुख प्राप्त होता है[1]। इस लययोग की साधना से भिन्न अन्तिम मार्ग राजयोग है। योनि के महाक्षेत्र में जपा और बंधूक पुष्पों के समान लाल रज रहा करता है। वह देवी तत्त्व है। इस रज के साथ रेत का जो योग है वही राजयोग है[2]। इससे अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। निश्चय ही यहाँ पारमार्थिक अर्थ में 'रज' और 'रेतस्' (शुक्र) का उल्लेख हुआ है। परन्तु शब्दों का प्रयोग अपूर्व तथा अर्थपूर्ण है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने इसकी टीका में विशेष कुछ नहीं लिखा। सिर्फ इतना और भी जोड़ दिया है कि शिश्न मूल का 'रेतस्' शिवतत्त्व है।[3]

हमने ऊपर देखा है कि गोरखनाथ ने स्वयं कहा है कि जो व्यक्ति छः चक्र, सोलह आधार और दो लक्ष्य तथा, व्योमपञ्चक को नहीं जानता वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। षट् चक्र की बात ऊपर बताई गई है। आधार सोलह हैं—दृष्टि को स्थिर करने वाला (१) पादांगुष्ठ, अग्नि को दीप्त करनेवाला (२) मूलाधार, संकोच-विकास के अभ्यास द्वारा अपान वायु को वज्रगर्भनाड़ी में प्रवेश करा कर शुक्र और रज को आकर्षण कराने वाली वज्रोली के सहायक (३) गुह्याधार और (४) बिन्दुचक्र, मल मूत्र और कृमि का विनाशक (५) नाड्याधार, नादोत्पादक (६) नाभिमण्डलाधार, प्राण वायु का रोधक (७) हृदयाधार, इड़ा पिंगला में प्रवहमान वायु को रोकने वाला (८)

---

१. योगशिखोपनिषत् (१२६—१३५

२. योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबंधूकसन्निभम्।
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम्॥
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।
अणिमादि पदं प्राप्य राजते राजयोगतः॥
योगशिखोपनिषत् १३६—१३७

३. राजयोगलक्षणमाह। योनीति। शश्नि (शिश्न?) स्थाने रेतो वसते इति शिवतत्त्वम्।

कंठाधार और कंठमूल का वह (९) क्षुद्रघंटिकाधार जिसमें दो लिंगाकार कोरें लटक रही हैं, जहाँ जिह्वा पहुँचाने से ब्रह्मरंध्र में स्थित चंद्र मंडल का झरता हुआ अमृतरस पीना सहज होता है। खेचरी मुद्रा का सहायक (१०) तालवन्ताधार, जिह्वा के अधोभाग में स्थित (११) रसाधार, रोगशामक (१२) ऊर्ध्वदन्तमूल, मन को स्थिर करने वाला (१३) नासिकाग्र, ज्योति को प्रत्यक्ष करने में सहायक (१४) नासामूल, सूर्याकाश में मन को लीन करने वाला (१५) भ्रूमध्याधार और (१६) सोलहवाँ नेत्राधार जिस में ज्योति प्रत्यक्ष अवभासित होती है। ये सब बाह्यलक्ष्य हैं। आन्तरलक्ष्य षट्चक्र हैं। दो लक्ष्य वही हैं। पाँच आकाश इस प्रकार हैं—(१) श्वेत वर्ण ज्योति रूप आकाश, इसके भीतर (२) रक्तवर्ण ज्योति रूप प्रकाश है, इसके भी भीतर (३) धूम्रवर्ण महाकाश, फिर (४) नीलवर्ण ज्योति रूप तत्वाकाश है, और इसके भी भीतर विद्युत् के वर्ण का ज्योति रूप (५) सूर्याकाश है।'[1]

इन विविध ध्यानों को आसन प्राणायाम और मुद्रा के अभ्यास से सिद्ध किया जाता है। मुद्रा का उद्देश्य शक्ति को ऊपर की ओर चलाना है, इसीलिये अ म रौ घ शा स न में मुद्रा को 'सारणा (=चलाने वाली) कहा गया है। अब, अगर विचार किया जाय तो जीव के जन्म-मरण का कारण इस सृष्टि चक्र में पच पच कर मरने का रहस्य सिर्फ यही है कि किसी अनादिकाल में शिव और शक्ति क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होने के लिये अलग अलग स्फुटित हुए थे। शिव और शक्ति जिस दिन समरस होकर एकमेक हो जायेंगे उस दिन यह सारा प्रतीयमान सृष्टिचक्र अपने आप निःशेष हो जायगा। शक्ति कुण्डलिनी रूप में देह में स्थित है और शिव भी सहस्रार में विराजमान हैं। जन्म जन्मान्तर के संचित मलों के भार से कुण्डलिनी दबी हुई है। एक बार यदि मनुष्य ध्यान धारणा के बल से वायु को संयमित करे और नाड़ियों को शोधकर पवित्र करे तो वह परम पवित्र सुषुम्णा मार्ग खुल जाय जिसके ब्रह्मरंध्र को ढक कर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोई हुई हैं। वस्तुतः वह सृष्टि ही कुण्डली है। वह दो प्रकार की है—स्थूल और सूक्ष्म। साधारणतः स्थूलरूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते हैं, अज्ञान के बोझ से दबे रहने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नहीं जान पाते। सिद्धियाँ स्थूला कुण्डलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती हैं परन्तु सर्वोत्तम ज्ञानरूपिणी—परा संवित्—जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है उसको पहचाने बिना परमपद नहीं मिलता। शक्ति जब उद्बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है—इसी को पिण्डब्रह्माण्डैक्य भी कहते हैं—तो योगियों की परम काम्य कैवल्य अवस्थावाली सहजसमाधि प्राप्त होती है जिस से बढ़कर आनंद और नहीं है। यह सब गुरु की कृपा से होता है, वेद पाठ से

---

१. सि० सि० सं०: द्वितीय उपदेश; गो० प०: पृ० १२-१४

नहीं, ज्ञान से भी नहीं, वैराग्य से भी नहीं।[1] जो इस सहजसमाधि रूप परम विश्राम को पाना चाहे वह अच्छे गुरु के चरणकमलों की सेवा करे। उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर रहेगा और न शिव-शक्ति सामरस्य ही—

> अनुबुभूषति यो निजविश्रम
>
> स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
>
> तदनुसंस्मरणात् परमं पदं
>
> समरसीकरणं च न दूरतः॥
>
> —सि० सि० सं० ५.५९

---

१. सृष्टिरूपा कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक वर्जिता।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेन तु।
ततः सूक्ष्मा परासंवित् मध्यशक्तिर्महेश्वरी॥
— सि० सि० सं० ४।३०-३२

(२) गोरक्ष-सिद्धान्त

गोरक्षनाथ के नाम पर जितने भी ग्रन्थ पाए जाते हैं वे प्रायः सभी साधन-ग्रंथ हैं। उनमें साधना के लिये उपयोगी व्यावहारिक तथ्यों का ही संकलन है। बहुत कम पुस्तकें ऐसी हैं जिनसे उनके दार्शनिक मत का, और सामाजिक जीवन में उसके उपयोग का प्रतिपादन हो। सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरीज़ में 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' नामकी एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तक अधूरी ही छपी है। इसके सम्पादक सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० गोपीनाथ कविराज हैं। पुस्तक की संस्कृत हल्की, और स्थान स्थान पर, अशुद्ध भी है। इसमें भी सन्देह नहीं कि पुस्तक हाल की लिखी है। फिर भी इसका लेखक बहुश्रुत जान पड़ता है। पुस्तक में पुरानी ५८ पोथियों के प्रमाण संग्रह किए गए हैं[१]। उद्धृत पुस्तकों में से अनेक उपलभ्य नहीं हैं।

---

१. निम्नलिखित पुस्तकों के प्रमाण उद्धृत किए गए हैं :—

१.	सिद्ध सिद्धान्त पद्धति	३०.	शाबरतंत्र
२.	अवधूत गीता	३१.	षोड़नित्यातंत्र
३.	सूतसंहिता	३२.	षट्शांभव रहस्य
४.	ब्रह्मबिंदु उपनिषत्	३३.	पद्मपुराण
५.	कैवल्योपनिषत्	३४.	महाभारत
६.	तेजोबिंदूपनिषत्	३५.	कवेषय गीता
७.	अमनस्क	३६.	सनत्सुजातीय
८.	विवेकमार्तण्ड	३७.	बह्वृच्ब्राह्मण
९.	ध्यानबिंदूपनिषत्	३८.	शिव उप०
१०.	मुण्डक उ०	३९.	माण्डूक्य उप०
११.	आत्मोपनिषत्	४०.	भागवत
१२.	अमृतबिंदु उप०	४१.	योगबी०
१३.	मनुस्मृति	४२.	कपिलगीता
१४.	उत्तर गीता	४३.	गोरक्षस्तोत्र
१५.	वायुपुराण	४४.	कल्पद्रुमतंत्रका गोरक्षसहस्रनाम
१६.	मार्कण्डेय पुराण	४५.	सारसंग्रह
१७.	गीता	४६.	स्कंदपुराण
१८.	तंत्रमहार्णव	४७.	रुद्रयामल
१९.	क्षुरिका उप०	४८.	ताराक्षुक्ति
२०.	गोरक्ष उप०	४९.	कुलार्णव तंत्र.
२१.	बृहदारण्यक उ०	५०.	वायुपुराण
२२.	छान्दोग्य उ०	५१.	सूत संहिता
२३.	कालाग्निरुद्र उप०	५२.	आदिनाथ संहिता
२४.	ब्रह्मोप०	५३.	ब्रह्मवैवर्त
२५.	सर्वोप०	५४	शिवपुराण
२६.	राजगुह्य	५५.	परमहंस उप०
२७.	शक्ति संगम तंत्र	५६.	योगशास्त्र
२८.	हठप्रदीपिका	५७.	श्रीनाथसूत्र
२९.	सिद्धान्त बिंदु	५८.	ब्रह्मांड खण्ड

यह तो कहना ही व्यर्थ है कि गोरक्षनाथ के पहले योग की बड़ी जबर्दस्त परंपरा थी, जो ब्राह्मणों और बौद्धों में समान रूप से मान्य थी। इसका एक विशाल साहित्य था। नाना उपनिषदों में नाना भाव से योग की चर्चा हुई है और बौद्ध साधकों के पास तो काया योग का साहित्य अनेक अंशों से कहीं बड़ा था। इन सब से गोरक्षनाथ ने सार संग्रह किया होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके पूर्ववर्ती अनेक ग्रंथ लुप्त हो गये हैं और यह जानने का हमारे पास कोई उपाय नहीं रह गया है कि कहाँ से कितना अमृत उन्होंने संग्रह किया था। अब भी योग साधना बताने वाली उपनिषदें कम नहीं हैं[1]। यह कह सकना बड़ा कठिन है कि इनमें कौन सी गोरक्षनाथ के पहले की लिखी हुई हैं और कौन सी बाद की डा० डायसन[2] ने कालक्रम से इन उपनिषदों को चार भागों में विभक्त किया है।

१. प्राचीन गद्य उपनिषत्
२. प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषत
३. परवर्ती गद्य उपनिषत
४. आथर्वण उपनिषत्

ये क्रमशः परवर्ती हैं। आथर्वण उपनिषदों में संन्यास उपनिषद्, योग उपनिषद्, सामान्य वेदान्त, उपनिषद्, वैष्णव उपनिषद् तथा शैव और शाक्तादि उपनिषद् शामिल हैं। पता नहीं किस आधार पर डायसन ने इन सब को आथर्वण उपनिषद् कहा है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने २० योगोपनिषदों में एक को भी अथर्ववेद से संबद्ध नहीं माना। परन्तु डायसन का यह कथन ठीक जान पड़ता है कि योग उपनिषद् परवर्ती

---

१. मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से अ० महादेव शास्त्री ने सन् १९२० में 'योग उपनिषदः' नामक एक योग विषयक उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित किया है। ये सभी उपनिषदें अष्टोत्तरशत उपनिषदों में प्रकाशित हो चुकी हैं; परन्तु शास्त्री जी के संस्करण में यह विशेषता है कि उसमें उपनिषद्ब्रह्मयोगी की व्याख्यायें भी हैं। इस संग्रह की उपनिषदों के नाम ये हैं :

१. अद्वयतारकोपनिषत्	११. ब्रह्मविद्योपनिषत्
२. अमृतनादोपनिषत्	१२. मण्डलब्राह्मणोपनिषत्
३. अमृतबिंदूपनिषत्	१३. महावाक्योपनिषत्
४. क्षुरिकोपनिषत्	१४. योगकुण्डल्युपनिषत्
५. तेजोबिन्दूपनिषत्	१५. योगचूडामण्युपनिषत्
६. त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत्	१६. योगतत्त्वोपनिषत्
७. दर्शनोपनिषत्	१७. योगशिखोपनिषत्
८. ध्यानबिन्दूपनिषत्	१८. वराहोपनिषत्
९. नादबिंदूपनिषत्	१९. शाण्डिल्योपनिषत्
१०. पाशुपतब्रह्मोपनिषत्	२०. हंसोपनिषत्

२. फिलासफी आफ उपनिषत्स, पृ० २२-२६

हैं। यदि यह मान लिया जाय कि षडङ्ग योग गोरक्षनाथ आदि का प्रवर्तित है, आसनों की संख्या अधिक मानना हठयोगियों का प्रभाव है और नादानुसंधान इन लोगों की ही विशिष्ट साधना है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनमें कई उपनिषद् गोरक्ष परवर्ती हैं। अमृतनाद, क्षुरिका, ध्यानबिंदु और योगचूड़ामणि आदि उपनिषदों में षडंग योग की चर्चा है, दर्शनोपनिषद् में नौ और त्रिशिख ब्राह्मण में अट्ठारह आसन बताए गए हैं। ब्रह्मबिंदु और ब्रह्मविद्या आदि उपनिषदों में नादानुसन्धान का उल्लेख है, योगतत्त्व, योगशिखा और योगराज उपनिषदों में चार प्रकार के योग और प्राणापान समीकरण की विधि है। कई उपनिषदों में जलंधर और उड्डियान बन्धों की चर्चा है। यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता कि ये सारी उपनिषदें गोरक्षनाथ के बाद ही लिखी गई हैं—कुछ में प्राचीनता के चिह्न अवश्य हैं—परन्तु इनमें से अधिकांश पर इनका प्रभाव पड़ा है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में प्रायः सभी मुख्य मुख्य योगोपनिषदों के वाक्य प्रमाण रूप से उद्धृत किए गए हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो इस संग्रह में उपलब्ध नहीं हैं। गोरक्ष, सर्व कालाग्नि और शिव उपनिषदें ऐसी ही हैं। अड्यार लाइब्रेरी ने ७१ उपनिषदों का एक और उपनिषत्-संग्रह प्रकाशित किया था। उसमें शिवोपनिषत् है पर और नहीं हैं। इस प्रकार गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह के उद्धृत वाक्य महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। जो हो, परवर्ती साधना साहित्य के अध्ययन के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। उस पुस्तक के सिद्धान्तों को संक्षेप में यहाँ संग्रह किया जा रहा है।

ग्रंथ के आरंभ में ही गुरु की महिमा बताई गई है। गुरु ही समस्त श्रेयों का मूल है, इस लिये बहुत सोच समझ कर गुरु बनाना चाहिए।[1] एकमात्र अवधूत ही गुरु हो सकता है; अवधूत—जिसके प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य विराजमान है, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे में भोग है और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों से अलिप्त है। सूतसंहिता में कहा गया है कि वह वर्णाश्रम से परे है, समस्त गुरुओं का साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बड़ा है न बराबर। इस प्रकार के पक्षपात-विनिर्मुक्त मुनीश्वर को ही अवधूत कहा जा सकता है, उसे ही 'नाथ पद' प्राप्त हो सकता है। इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति है जो द्वैत और अद्वैत के द्वंद्व से परे है। अवधूतगीता में कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैत को चाहते हैं कुछ द्वैत को पर द्वैताद्वैतविलक्षण समतत्व को कोई नहीं जानता। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और निरन्तर हैं तो यह द्वैताद्वैत कल्पना क्या मोह नहीं है?[2]

---

१. तुलनीय—सि० सि० सं०, पंचम उपदेश

२. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना॥ पृ० ११

इसीलिये सिद्ध जालंधर ने नाथ द्वैत और अद्वैत दोनों से परे—द्वैताद्वैतविलक्षण—कह कर स्तुति की है।[1]

यह मत अपने को वेदान्तियों, सांख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनों के मत से अपनी विशेषता प्रतिपादित करता है।[2] श्रुति इन लोगों के मत से सिद्ध नहीं है।[3] वेद दो प्रकार के माने गए हैं, स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञयाग का विधान करते हैं योगियों को इससे कोई वास्ता नहीं उनका मतलब तो केवल ओंकारमात्र से है। यह ओंकार ही सूक्ष्म वेद है।[4] पुस्तकी विद्या का इस में बड़ा मजाक उड़ाया गया है।[5] और अद्वैत मत से नाथमत का उत्कर्ष दिखाया गया है। इस सिलसिले में एक मनोरंजक कहानी दी गई है। शंकराचार्य अपने चार शिष्यों सहित नदी तीर पर बैठे थे। वहीं भैरव उनकी परीक्षा लेने के लिये कापालिक रूप में उपस्थित हुए और बोले कि आप तो अद्वैतवादी हैं, शत्रु और मित्र को समान भाव से देखते हैं, कृपया मुझे आपका सिर काट लेने दीजिए। शंकराचार्य चक्कर में पड़ गए। दोनों ओर आफत थी। देते हैं तो प्राण जाता है, नहीं देते तो अद्वैत मत स्वतः परास्त हो जाता है। उन्हें निरुपाय देखकर शिष्यों में से एक ने नृसिंह भगवान् को स्मरण किया। वे तुरन्त घटनास्थल पर पहुंच भैरव से भिड़ गये। तब भैरव ने कापालिक वेश परित्याग कर अपना रूप धारण किया और प्रसन्न होकर मेघमन्द्र स्वर में कहा—अहो, अद्वैतवाद आज पराजित हुआ, मैंने चालाक मल्ल की भाँति अपने शरीर की हानि करके भी प्रतिद्वंद्वी को परास्त कर दिया। आओ युद्ध करो। शंकराचार्य इस ललकार का मुकाबला नहीं कर सके क्योंकि उनकी अद्वैत-साधना से संचित और क्रियमाण कर्म तो दग्धबीज की भाँति निष्फल हो जाते हैं परन्तु प्रारब्ध कर्म बने ही रहते हैं। एक कापालिकों का योगमार्ग ही ऐसा है जिसमें सभी कर्म भस्म हो जाते हैं। सो प्रारब्ध कर्मों के प्रताप से शंकर जड़ हो गए। तब जाकर उन्होंने समझा कि उत्तम मार्ग क्या है। इसी अवस्था में उन्होंने सिद्धान्त बिन्दु की रचना की जो असल में नाथमत का ग्रंथ है। इसी अवस्था में उन्होंने वज्रसूचिको पनिषद् भी लिखी।

---

१. वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा।
सत्कर्तृव्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा।
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं
द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वय उतपरं योगिनं शंकरं वा॥

२. देखिए ऊपर पृ० १-२

३. पृ० २२-२८; ७५-७६

४. पृ० २६

५. तुल०—

पढ़ा लिखा सुआ बिलाई खाया पंडित के हाथि रह गई पोथी।

—गोरखबानी, पृ० ४२

मुक्ति क्या है? मुक्ति वस्तुतः नाथस्वरूप में अवस्थान है। इसीलिये गोरक्ष-उपनिषद् में कहा गया है अद्वैत के ऊपर सदानंद देवता है अर्थात् अद्वैतभाव ही चरम नहीं है, सदानन्द वाली अवस्था उसके ऊपर है। वह बाह्याचार के पालन से नहीं मिल सकती। इस मत के अनुसार शक्ति सृष्टि करती हैं, शिव पालन करते हैं काल संहार करते हैं और नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा हैं, बाकी सभी बद्ध जीव हैं—शिव भी, विष्णु भी और ब्रह्मा भी (पृ० ७०)। न तो ये लोग द्वैतवादियों के क्रिया ब्रह्म में विश्वास रखते हैं न अद्वैतवादियों के निष्क्रिय ब्रह्म में। द्वैतवादियों के स्थान हैं, कैलाश और बैकुंठ आदि, अद्वैतवादियों का माया-शबल ब्रह्मस्थान और योगियों का निर्गुण स्थान है पर बंधमुक्ति रहित परमसिद्धान्तवादी अवधूत लोग निर्गुण और सगुण से परे उभयातीत स्थान को ही मानते हैं क्योंकि नाथ, सगुण और निर्गुण दोनों से अतीत परात्पर हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव वेद, [illegible], सूर्य, चंद्र, विधिनिषेध, जल, स्थल, अग्नि, वायु दिक् और काल—सबसे परे स्वयं ज्योतिःस्वरूप एकमात्र सच्चिदानंद मूर्ति हैं

> न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो
> नैवाग्निर्वापिवायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैवकालः
> नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधि नैविकल्पः
> स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्द मूर्ते।
>
> —सिद्धसिद्धान्तपद्धति

———o———

१२

गोरक्षनाथ के समसामयिक सिद्ध

नाथपंथ के चौरासी सिद्धों में से कई वज्रयानी परंपरा के सिद्ध हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन उभय सामान्य सिद्धों में से कुछ तो गोरखनाथ के पूर्ववर्ती होंगे और कुछ समसामयिक। गोरखनाथ के अप्रतिद्वंद्वी व्यक्तित्व और अप्रतिहत प्रभाव को देखते हुए यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि उनके बाद का कोई भी ऐसा व्यक्ति नाथ-परंपरा का सिद्ध नहीं माना गया होगा जो सम्पूर्ण रूप से उनका अनुयायी न हो। जिन सम्प्रदाय-प्रवर्तक सिद्धों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं उनके अतिरिक्त निम्नलिखित सिद्धों के विषय में नाना सूत्रों से हम कुछ जानकारी संग्रह कर सके हैं (अधिकांश में यह बातें दन्तकथाओं पर ही आधारित हैं पर कुछ बातें समसामयिक या परवर्ती ग्रंथों से भी मिल जाती हैं।)—

१. चौरंगीनाथ	१३. टेंटस
२. चामरीनाथ	१४. चुणकर
३. तंतिपा	१५. भादे
४. दारिपा	१६. कामरी
५. विरूपा	१७. धर्मपापतंग
६. कामरी	१८. भद्रपा
७. कनखल	१९. सबर
८. मेखल	२०. सान्ति
९. धोबी	२१. कुमारी
१० नागार्जुन	२२. सियारी
११. अचिति	२३. कमलकंगारि
१२. चम्पक	२४. चर्पटीनाथ

नीचे हम इनका संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं—

१. चौरंगीनाथ—तिब्बती परंपरा में गोरक्षनाथ के गुरुभाई माने गए हैं।[1] इनकी लिखी कही जाने वाली एक पुस्तक—प्राण संकली—पिंडी के जैन ग्रंथ भाण्डार में सुरक्षित है। इसमें इन्होंने अपने को राजा सालबाहन का बेटा, मच्छंद्रनाथ का शिष्य और गोरखनाथ का गुरुभाई बताया है। इस छोटी-सी पुस्तक से यह भी पता चलता है कि इनकी विमाता ने इनके हाथ पैर कटवा दिए थे। ये ही पंजाब की लोक कथाओं के पूरनभगत हैं जिनके विषय में हम आगे कुछ विस्तार पूर्वक लिखेंगे। चौरंगीनाथ की

1. गं गा : पृ० २६०

प्राण संकली की भाषा शुरू में पूर्वी है पर बाद में राजस्थानी-जैसी हो जाती है। शुरू का अंश इस प्रकार है—

> सत्य वदंत चौरंगीनाथ आदि अन्तरि सुनौ सिर्तात सालवाहन घरे हमारा जनम उतपति सतिमा झुठ बोलीला ॥ १ ॥ ह अम्हारा भइला सासत पाप कलपना नहीं हमारे मने हाथ पाव कटाय रलायला निरंजन वने सोष सन्ताप मने परमेव सनमुष देषीला श्री मछंद्रनाथ गुरुदेव नमसकार करीला नमाइला माथा ॥ २ ॥ असीरवाद पाइला अम्हे मने भइला हरषित होठ कंठ तालुका रे सुकाईला धर्मना रूप मच्छंद्रनाथ स्वामी ॥ ३ ॥ मन जानै पुन्य पाप मुष बचन न आवै मुषै बोलव्या कैसा हाथ रे दीला फल मुषे पीलीला ऐसा गुसाईं बोलीला ॥ ४ ॥ जीवन उपदेस भाषिला फल अम्हे बिलाशा दोष छुधया त्रिषा बिसारला ॥ ५ ॥ नहीं मानै लोक घर धरम सुमिरला अम्हे भइला सचेत के तम्ह कहारे बोले पुछीला ॥ ६ ॥

स्पष्ट ही यह भाषा पूर्वी है यदि प्राण संकली सचमुच चौरंगीनाथ की रचना है तो मानना पड़ेगा कि चौरंगीनाथ पूर्वी प्रदेश के रहने वाले थे। मैं इस पुस्तिका का संपादन कर रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि इस में पुराने अंशों के साथ नये अंश भी जोड़ दिए गए हैं। जितनी भी परंपराएं उपलब्ध हैं वे सभी पूरनभगत को स्यालकोट (पंजाब) से ही संबद्ध बताती हैं। तनजुर में चौरंगिपा की एक पुस्तक है जिसका नाम है तत्त्वभावनोपदेश। ठीक इसी नाम की एक पुस्तक गोरक्षपाद की भी बताई जाती है इतना यहाँ और उल्लेख योग्य है कि प्राण संकली नामक एक छोटी सी रचना भी गोरखनाथ की मानी जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि चौरंगीनाथ नामक किसी पूर्व देशीय सिद्ध की कथा से पूरनभगत की कथा का साम्य देखकर दोनों को एक मान लिया गया है।

२. चामरीनाथ—संभवतः तिब्बती परंपरा के चौंसठवें सिद्ध चँवरिपा से अभिन्न हैं जिन्हें मगधदेश का रहनेवाला घी-विक्रेता बनिया जाति में उत्पन्न और गोरखनाथ का परवर्ती बताया गया है।

३. तंतिपा—तेरहवें वज्रयानी सिद्ध तंतिपा हैं। इन्हें तिब्बती परम्परा में मगध देश का ब्राह्मण और जालंधरपाद का शिष्य कहा जाता है। राहुल जी ने गंगा के पुरातत्वांक में एक स्थान पर इन्हें मगधदेशवासी ब्राह्मण (पृ० २२१) लिखा है और दूसरी जगह अवन्ती देश का तांती (पृ० २५६)। नाम देखने से दूसरी ही बात ज्यादा विश्वसनीय जान पड़ती है। कभी कभी इन्हें कण्हपाद से अभिन्न भी माना गया है जो ठीक नहीं जान पड़ता।

४. दारिपा—संभवतः वज्रयानी सिद्ध (नं० ७७) दारिकपा से अभिन्न हैं। इन्हें उड़ीसा का राजा बताया गया है। जब परम सिद्ध लुईपा (लूहिपा) उधर गए तो ये और इनके ब्राह्मण मंत्री उनके शिष्य हो गए। गुरु ने इन्हें वेश्या दारिका (वेश्या की

कन्या) की सेवा का आदेश दिया था। इस क्रम में उन्हें सफलता मिली। दारिका (लड़की) की सेवा करके सिद्धि पाने के कारण इन्हें 'दारिक' कहा जाने लगा। इनके निम्नलिखित पद से इनके राजा होने का तथा लुईपा का शिष्य होने का अनुमान किया जा सकता है :

राआ राआ राआ रे
अवर राअ मोहेर बाधा।
लुइ पाअ पए दारिक
द्वादश भुवनें लाधा ॥

अर्थात्, 'राजा तो मैं अब हुआ हूँ और राज्य तो मोह के बंधन हैं। लुई पाद के चरणों का आश्रय करने से दारिक ने चौदहों भुवन प्राप्त कर लिया है।' महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने इन्हें बंगाल का कवि माना है[1] और महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन ने उड़िया का[2]। इनके लोकभाषा में लिखित कई पद प्राप्त हुए हैं। भाषा उनको 'नरसन्देह पूर्वी प्रदेशों की है लेकिन वह उस अवस्था में है जिसे आज की सभी पूर्वी भाषाओं का पूर्वरूप कहा जा सकता है। सहजयोगिनी चिन्ता इन्हीं की शिष्या थीं और घंटापा शिष्य थे। तनजुर में इनकी लिखी ग्यारह पोथियाँ संगृहीत हैं।

५. विरूपा—वज्रयानी सिद्ध तीसरे से अभिन्न। गोरखनाथ और कानिपा के समकालीन थे। सिद्ध नागबोधि के शिष्य थे। हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि वज्रयान और कालचक्रयान दोनों में इनकी पुस्तकें मान्य हैं। पुस्तकों में छिन्नमस्ता साधन, रक्तयमारि साधन प्रसिद्ध हैं। इनको चार पुस्तकें गान की हैं—विरूप गीतिका, 'विरूपपद चतुरशीति, कर्मचण्डालिका, दोहाकोष गीति और विरूप वज्र गीतिका।[3] इनके अतिरिक्त अमृत सिद्धि, मार्गफलान्विताववादक और सुनिष्प्रपंच तत्वोपदेश भी इनके लिखे हैं।[4] इनका सिर्फ एक पद मूल रूप में उपलब्ध हुआ है जो बौ० गा० दो० में और गंगा के पुरातत्त्वांक में भी, संगृहीत है।

६. कमारी—यदि वज्रयानी सिद्ध पैंतालीस से अभिन्न हों तो जाति के लुहार थे।

७. कनखल—वज्रयानी सिद्धयोगिनी कनखला (नं० ६७) से अभिन्न जान पड़ती हैं। ये कृष्णाचार्यपाद (कानिपा) की शिष्या थीं। छपे वर्ण रत्नाकर में इनका नाम केवल खल (खल) है जो संभवतः गलती से छपा है। इसका पूर्ववर्ती भाग (कन) कान्ह के नाम के साथ जुड़ गया है।

८. मेखल—सिद्धयोगिनी मेखलापा नं० ६६) से अभिन्न जान पड़ती हैं। ये भी कानिपा की शिष्या थीं। कृष्णाचार्यपाद (कानिपा , के दोहाकोष पर मेखला नाम की संस्कृत टीका संभवतः इन्हीं की लिखी हुई है। तिब्बत में ये छिन्नमस्ता देवी के रूप में पूजी जाती हैं।

---

१. बौ. गा. दो० : पृ० ३०
२. गंगा : पृ० २५१
३. बौ० गा० दो०: पृ० २८
४. गंगा ; पृ० २५०

९. धोबी—वज्रयानी सिद्ध कट्टाईस से अभिन्न जान पड़ते हैं। सालिपुत्र (?) देश में धोबी कुल में उत्पन्न हुए थे।

१०. नागार्जुन—महायान मत के प्रसिद्ध नागार्जुन से ये भिन्न थे। अलबेरूनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उनसे लगभग सौ वर्ष पहले वर्तमान थे। साधनमाला में ये कई साधनाओं के प्रवर्तक माने गए हैं। इन साधनाओं से कई बातों का खुलासा होता है। नागार्जुन, शबरपाद (सबर) और कृष्णाचार्य का काल भी मिल जाता है।

साधनमाला में कृष्णाचार्य की कुरुकुल्ला साधना का उल्लेख है। इस कुरुकुल्ला को ध्यानी बुद्ध की अभिव्यक्ति से उद्भूत बताया गया है। डा० बिनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि कुरुकुल्ला की उपासना के प्रथम प्रवर्तक शबरपाद नामक सिद्ध हैं जिनका समय सप्तम शताब्दी सन ईसवी का मध्यभाग है। ये नागार्जुन के शिष्य थे। नागार्जुन ने भी एक विशेष देवी 'एकजटा' की उपासना का प्रवर्तन किया था। साधनमाला में बताया गया है कि इस एकजटा देवी की साधना को नागार्जुनपाद ने भोट देश (तिब्बत) से उद्धार किया था। इसी देवी का एक नाम 'महाचीन तारा' भी है। तारा की उपासना ब्राह्मण तंत्रों में भी विहित है। साधनमाला में कुरुकुल्ला के भी अनेक रूपों का वर्णन है जिन में एक रूप है ताराद्भवा कुरुकुल्ला। इस प्रकार कुरुकुल्ला, एकजटा और तारा की उपासनाओं में कोई संबंध स्पष्ट ही मालूम होता है। डा० बिनयतोष भट्टाचार्य ने परानंदसूत्र की भूमिका (पृ० १०-११) में दिखाया है कि महाचीनतारा ने ही आगे चल कर हिंदुओं की चतुर्भुजी तारा (जो दस महाविद्याओं में हैं) का रूप ग्रहण किया है। हिंदू तंत्रों की उमा, महोमा, भद्रकाली, सरस्वती, कामेश्वरी आदि देवियों को तारा की ही अभिव्यक्ति बताया गया है दस महाविद्याओं की छिन्नमस्ता को बौद्ध वज्रयोगिनी का समशील बताया गया है और कहा गया है कि इसकी उपासना के भी मूल प्रवर्तक शबरपाद ही थे। ऐसा जान पड़ता है कि कृष्णपाद या कृष्णाचार्य इस देवी के उपासक थे। कृष्णाचार्य की शिष्या मेखलापा तिब्बत में छिन्नमस्ता के रूप में पूजी जाती हैं। इससे दो बातों का अनुमान होता है। प्रथम तो कृष्णाचार्य का समय निश्चित रूप से शबरपाद के बाद सिद्ध होता है और दूसरा यह कि परवर्ती शाक्त मत के विकास में इनका बहुत बड़ा हाथ है।

प्रबंधचिन्तामणि से पता चलता है कि नागार्जुन पादलिप्त सूरि के शिष्य थे और उनसे ही इन्होंने आकाश-गमन की विद्या सीखी थी। समुद्र में पुराकाल में पार्श्वनाथ की एक रत्नमूर्ति द्वारका के पास डूब गई थी जिसे किसी सौदागर ने उद्धार किया था। गुरु से यह जान कर कि पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठ कर यदि कोई सर्वलक्षण समन्विता स्त्री पारे को घोंटे तो कोटिवेधी रस सिद्ध होगा। नागार्जुन ने अपने शिष्य राजा सातवाहन की रानी चंद्रलेखा से पार्श्वनाथ की रत्नमूर्ति के सामने पारद-मर्दन करवाया था। रानी के पुत्रों ने रस के लोभ से नागार्जुन को मार डाला था। इस कथा में कई ऐतिहासिक असंगतियाँ हैं पर इससे कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। (१) प्रथम यह कि नागार्जुन रसेश्वर सिद्ध थे, (२) दूसरी यह कि गोरखपंथियों की पारसनाथी शाखा के प्रवर्तक भी शायद वही हैं और (३) तीसरी यह कि वे पश्चिम भारत के

निवासी थे। नागार्जुन को परवर्ती योगियों ने "नागा अरजंद" कहा है। इनके संबंध में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं। नाथपंथ के बारह आचार्यों में इनकी गणना है।

एक परवर्ती सिद्ध नागनाथ के साथ भी कभी कभी इनको मिलाकर दोनों को अभिन्न मान लिया जाता है।

११. अचिति—वज्रयानी सिद्ध अचिन्तिपा (नं० ३८) से अभिन्न। धनिरूप देश में लकड़हारे का काम करते थे। प्रसिद्ध है कि एक बार लकड़ी काट कर इन्होंने उसे एक नाग से बांध लिया था। अपने आप में इतने मस्त थे कि उन्हें पता ही नहीं चला कि नाग है या रस्सी उपयुक्त शिष्य देखकर इन्हें जालंधर नाथ के शिष्य कानिपा ने दीक्षा दी थी।

१२. चम्पक—चम्पारण्य देश (आधुनिक चंपारन) के निवासी थे। तनजुर में इनका एक ग्रंथ 'आत्म परिज्ञान दृष्टि उपदेश' नाम से उपलब्ध है।

१३. ढेन्टस – संभवतः ढेण्ढणपाद का नाम ही विकृत होकर ढेन्टस हो गया है। बौ० गा० दो० में इनका पद संगृहीत है।

१४. तुणकरनाथ—डा० बड़थ्वाल ने इन्हें गोरक्षनाथ के समय का सिद्ध माना है। इनके कुछ पद हिन्दी में मिले हैं। इन पदों की भाषा को देखकर डा० बड़थ्वाल ने इन्हें चरपटनाथ का पूर्ववर्ती समझा है (यो ग प्र वा ह, पृ० ७२)

१५. भादे—तिब्बती परंपरा में इन्हें श्रावस्ती का ब्राह्मण और कानिपा का शिष्य कहा गया है। जाति के चित्रकार थे। बौ० गा० दो० में इनका एक पद संगृहीत है।

१६. कामरी—वज्रयानी सिद्ध कंबलांबरपाद (कमरिपा) से शायद भिन्न नहीं है। ये बौद्ध दर्शन के बड़े मान्य पंडित थे। प्रज्ञापारमिता दर्शन पर इनके चार ग्रंथ भोट-भाषा में प्राप्य हैं सुप्रसिद्ध सिद्ध वज्रघंटापाद के शिष्य और राजा इन्द्रभूति के गुरु थे। राहुल जी ने (गं गा पृ० २५२) इन्हें उड़ीसा देशवासी कहा है। हरप्रसाद शास्त्री इन्हें बंगला कवि समझते हैं। (पृ० ३७) वस्तुतः ये मगध में उत्पन्न ब्राह्मण थे और दीर्घकाल तक उड्डियान में रहे थे। वज्रयान के ये प्रसिद्ध आचार्य और युगनद्ध हेरुक के उपासक थे।

१७. धर्मपापतंग—जान पड़ता है कि धर्मपा और पतंग दो नाम हैं जो गलती से एक साथ पढ़ दिये गए हैं। इन्हीं का दूसरा नाम गुण्डरीपाद है। जाति के लुहार थे। इनके पद बौ० गा० दो० में प्राप्य हैं।

१८. भद्रपा– तिब्बती परम्परा के अनुसार मणिभद्र देश के ब्राह्मण थे। राहुल जी का अनुमान है कि मणिधर देश, बघेलखंड का मैहर है।

१९ सबर— इस नाम के दो सिद्ध हो गए हैं। एक राजा धर्मपाल (७६९-८०९-ई०) के कायस्थ लूहिपा के गुरु और दूसरे दसवीं शताब्दी के सिद्ध। दोनों को एक दूसरे से घुला मिला दिया गया है। सबर के लिखे अनेक ग्रंथ भोट अनुवाद में सुरक्षित हैं। (गं गा पृ० २४७) प० हरप्रसाद शास्त्री ने इनकी पुस्तक बज्रयोगिनी साधन के आधार पर अनुमान किया है कि ये उड़ीसा के राजा इन्द्रभूति और उनकी कन्या लक्ष्मींकरा के दल के आदमी थे। इन लोगों ने उड़ीसा में वज्रयान का बड़ा प्रचार किया

था (बौ० गा० दो० २९)। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच ही उड्डियान उड़ीसा ही है ? इस बात का विचार हम पहले ही कर आए हैं। वज्रयोगिनी के संबंध में इनकी कई पुस्तकें हैं। इनके दो गान बौ० गा० दो० में संग्रहीत हैं। डा० भट्टाचार्य ने इन्हें नागार्जुन का शिष्य माना है। उनके मत से महायान मत में जो फरकृला की साधना है उसके आदि प्रवर्तक यही हैं।

२०. सान्ति (शान्ति)—वज्रयानी सिद्ध बारह से अभिन्न। इस नाम के अनेक सिद्ध हुए हैं (बौ० गा० दो० पृ० २९) परन्तु दसवीं शताब्दी में एक बहुत बड़े पंडित विक्रम शिला विहार के द्वाररक्षक पंडित के रूप में नियुक्त थे। उनका नाम भी शान्तिपाद था। संभवतः नाथ सिद्ध यही होंगे। राहुल जी ने (गं गा० पृ० ९५८) लिखा है कि मगध देश में ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था। ये इतने बड़े विद्वान् थे कि इन्हें लोग 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा करते थे। बौद्धदर्शन पर इनके लिखे अनेक ग्रंथ थे जो भोट अनुवाद में ही शेष रह गए हैं। राहुल जी ने लिखा है कि वज्रयानी सिद्धों में इतना जबर्दस्त पंडित दूसरा नहीं हुआ।

२१. कुमारी—संभवतः वज्रसिद्ध कुमरिपा से अभिन्न हैं।

२२. सियारो—वज्रयानियों के एक सिद्ध का नाम शृगालीपाद है जो मगध के शूद्रकुल में उत्पन्न हुए थे और महाराज महीपाल (९७४-१०२६ ई०) के राज्य काल में वर्तमान थे। सियारी और ये अभिन्न हो भी सकते हैं।

२३. कमल कंगारि—जान पड़ता है ये दो सिद्ध हैं, गलती से हरप्रसाद शास्त्री महाशय ने एक में लिख दिया है। वज्रयानी सिद्धों में एक कमलपा या कपालपा हो गए हैं जो दसवीं शताब्दी में वर्तमान थे और संभवतः बंगाल में शूद्रकुल में उत्पन्न हुए थे। छपे हुए वर्णरत्नाकर में कमल और कंगारी दो सिद्ध माने गए हैं।

२४. चर्पटीनाथ— डा०मोहन सिंह ने पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी की ३७१ नं० की हस्तलिखित प्रति से चर्पटीनाथ के नाम पाई जाने वाली एक कविता अपनी पुस्तक के परिशिष्ट (पृ० २०) में उद्धृत की है और इसका अंग्रेजी भाव भी दिया है। इसमें एक लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि चर्पटीनाथ ने भेष के जोगी को बहुत महत्त्व नहीं दिया है, आत्मा का जोगी कहलाने को ही बहुमान दिया है[२]। इसके अन्त में बाह्य आचार

---

१. प० रा० नं० द० सू० प की प्रस्तावना : पृ०१०-११

२. सुणु पर्टक मनु गिआनि रता। चरपट प्रणवै विथ मता।
बाहिरि उलटि भवन नहि जाउ। काहे कारनि काननि का भीरा खाउ।
विभूति न लगाणो जिउतरि उतरिजाइ। खर जिउ धूडि लेटै मेरी बलाइ।
सेली न बांधो लेवों ना म्रिगानी। भेडउँ ना लिया जो होइ पुरानी
पत्र न पूजो उड़ा न उठावो। कुते की निआई मांगने न जावो
बाडी करि कै मुगति न आओ। सिंघिआ देखि सिंगी न बजाओ।
दुआरे दुआरे भूआ न पाओ। भेखि का जोगी न कहावो
आतिमा का जोगी चरपटनाउ।

धारण करने वाले अन्य संप्रदायों की व्यर्थता भी बताई गई है : जब काल की घटा सिर पर चढ़ आएगी तो श्वेत या नील पट या लंबी जटा, या तिलक या जनेऊ कुछ भी काम नहीं आएगा। इन बाह्माचारों के साथ कान फाड़ने वालों को भी एक ही सुर में सावधान किया गया है :

इक सेति पटा इक नीलि पटा, इक तिलक जनेऊ लंबि जटा।
इक फीए एक मोनी इक कानि फटा, जब आवैगी कालि घटा।

इससे मिलता जुलता पद हिंदू विश्वविद्यालय की एक प्रति से डा० मोहन सिंह ने ही संग्रह किया है[1] उसमें कान फाड़ने वालों की बात नहीं है, पर उन सिद्धों को सावधान किया गया है जो हठ करके तप करते हैं।

इह संसार कंटकों की बाड़ी
निरख निरख पगु धरना।
चरपट्ट कहै सुनहु रे सिधो
हठि करि तपु नहि करना॥

श्री संत संपूर्ण सिंह ने तरनतारन से प्राण संगली छपाई है उसमें चरपटीनाथ तथा गुरु नानक देव की बातचीत छपी है। उसमें भी यह पद है—

इक पीत पटा इक लंब जटा, इक सूत जनेऊ तिलक ठटा।
इक जंगम कहो अंग भसम घटा, जउलउ नहीं चीनै उलटि घटा॥
तब चरपट सगले स्वांग नटा।

—अध्याय ७६, पृ० ७९४

यहाँ प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि चरपट नाथ रसायन सिद्धि की खोज में थे और निराश हो चुके थे। इस पद का भाव यह है कि वेश बनाने से क्या लाभ, सभी वेश तब तक स्वाँग मात्र हैं जब तक उनसे मृत्यु को जीतने में सहायता न मिले यदि मृत्यु पर विजय ही नहीं मिली तो इन टंटों से क्या लाभ? और मृत्यु पर विजय केवल रसायन से ही हो सकती है। सारी वार्ता रसायन के विषय में ही है।

इनके अतिरिक्त एक और अतिच्छिन्न हस्तलेख से भी कुछ अंश संग्रह करके डा० मोहन सिंह ने अपनी पुस्तक में छपाया है। इन सारे वाक्यों को पढ़ने से दो बातें बहुत स्पष्ट हैं : (१) चर्पटीनाथ बाह्य वेश के विरोधी थे और (२) कनफटा संप्रदाय में रहकर भी उसकी बाह्य प्रक्रियाओं को नहीं मानते थे। यह प्रवृत्ति नाथमार्ग में कब आई, यह विचारणीय है। वर्णरत्नाकर में चर्पटीनाथ का नाम आने से इतना तो स्पष्ट है कि चौदहवीं शताब्दी के पहले वे अवश्य प्रादुर्भूत हो चुके थे। प्राणसंगली के वार्तालाप से यह भी मालूम होता है कि वे रसायन-सिद्धि के अन्वेषक थे। इस पर से सिर्फ इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि वे गोरखनाथ के थोड़े परवर्ती थे, संभवतः रसायनवादी बौद्ध सिद्धों के दल से आकर गोरखनाथ के प्रभाव में आए थे और अन्त तक बाह्य वेश के विरोधी बने रहे।

---

१ पृ० २१

अनसठ वें वज्रयानी सिद्ध का नाम भी चर्पटी है। तिब्बती परंपरा में उन्हें मीनपा का गुरु माना गया है, परन्तु नाथ-परंपरा में इन्हें गोरखनाथ का शिष्य माना जाता है। एक अनुश्रुति के अनुसार गोरखनाथ के आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे। *मीनचेतन* में इन्हें ही कर्पटीनाथ कहा गया है। इनके '*चतुर्भवाभिवासनक्रम*' का तिब्बती अनुवाद प्राप्य है। रज्जबदास के '*सरबंगी ग्रंथ*' में इन्हें चारणी के गर्भ से उत्पन्न बताया गया है। डा० बड़थ्वाल ने लिखा है कि चंबा रियासत की राजवंशावली में इनकी चर्चा आती है। वोगेल और ऑमेन ने बताया है कि चंबा के राजप्रासाद के सामने वाले मंदिरों में चर्पट का मंदिर है जो सूचित करता है कि अनुश्रुतियों का राजा साहिल देव सचमुच ही चर्पट का शिष्य था (*योगप्रवाह* पृ० १८३ और आगे)। इनके कुछ हिंदी पद *योगप्रवाह* में संगृहीत हैं।

१३

परवर्ती सिद्ध-संप्रदाय में प्राचीन मत

(१) संप्रदाय भेद

गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित योगि-संप्रदाय नाना पंथों में विभक्त हो गया है। पंथों के अलग होने का कोई-न कोई भेदक कारण हुआ करता है। हमारे पास जो साहित्य है उस पर से यह समझना बड़ा कठिन है कि किन कारणों से और किन साधना-विषयक या तत्त्ववाद-विषयक मतभेदों के कारण ये संप्रदाय उत्पन्न हुए। गोरक्षनाथ के संप्रदाय की इस समय जो व्यवस्था उपलब्ध है उस पर से ऐसा मालूम होता है कि भिन्न भिन्न संप्रदाय उनके अव्यवहित पश्चात् उत्पन्न हो गये। भर्तृहरि उनके शिष्य बताये जाते हैं, कानिपा उनके समकालीन ही थे, पूरनभगत या चौरंगीनाथ भी उनके गुरुभाई और समकालीन बताये जाते हैं, गोपीचंद उनके समसामयिक सिद्ध कानिपा के शिष्य थे। इन सब के नाम से संप्रदाय चला है। जालंधर नाथ उनके गुरु के सतीर्थ थे, उनका प्रवर्तित संप्रदाय भी गोरक्षनाथ के संप्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती समसामयिक और ईषत्परवर्ती जितने सिद्ध हुये उन सबके प्रवर्तित संप्रदाय गोरक्षपंथ में शामिल हैं। इसका रहस्य क्या है?

हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि वर्तमान नाथपंथ में जितने संप्रदाय हैं वे मुख्य रूप से उन बारह पंथों से सम्बद्ध हैं जिनमें आधे शिव के द्वारा प्रवर्तित हैं और आधे गोरक्षनाथ द्वारा। इनके अतिरिक्त और भी बारह (या अट्ठारह संप्रदाय थे जिन्हें गोरक्षनाथ ने नष्ट कर दिया। उन नष्ट किये जाने वालों में कुछ शिव जी के संप्रदाय थे और कुछ स्वयं गोरक्षनाथ जी के। अर्थात् गोरक्षनाथ की जीवितावस्था में ही ऐसे बहुत से संप्रदाय थे जो अपने को उनका अनुवर्ती मानते थे और उन अनधिकारी संप्रदायों का दावा इतना भ्रामक हो गया कि स्वयं गोरक्षनाथ ने ही उनमें से बारह या अट्ठारह को तोड़ दिया! क्या यह सम्भ। है कि कोई महान् गुरु अपने जीवित काल में ही अपने मार्ग को भिन्न-भिन्न उपशाखाओं में विभक्त देखे और उनके मतभेदों को तो दूर न करे, बल्कि उनकी विभिन्नता को स्वीकार कर ले! इस विचित्र आचरण का रहस्य क्या है?

गोरक्षनाथ का जिस समय आविर्भाव हुआ था वह काल भारतीय धर्म साधना में बड़े उथल-पुथल का है। एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्धसाधना क्रमशः मंत्र-तंत्र और टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दसवीं शताब्दी में यद्यपि ब्राह्मणधर्म संपूर्णरूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो

ब्राह्मण और वेद के प्राधान्य को नहीं मानता था। यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत कोशिश की है कि उनके मार्ग को श्रुतिसम्मत मान लिया जाय परन्तु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शाक्त संप्रदाय उन दिनों वर्तमान थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण-प्राधान्य एकदम नहीं स्वीकार करते थे।

हमारे आलोच्य काल के कुछ पूर्व शैवों का पाशुपत मत काफी प्रबल था। हुएनत्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में इनका उल्लेख बारह बार किया है। वैशेषिक-दर्शन के टीकाकार प्रशस्तपाद शायद पाशुपत ही थे। बाणभट्ट ने अपने ग्रंथों में इस मत की चर्चा की है। परन्तु यह मत वेदबाह्य ही माना जाता था। शंकराचार्य ने[1] अपने शारीरक भाष्य में इसका खण्डन किया है। लिंग पुराण में पाशुपत मत को तीन प्रकार का बताया गया है—वैदिक, तांत्रिक और मिश्र। वैदिक लोग लिंग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे, तांत्रिक लोग तप्त-लिंग और शूल आदि का चिह्न धारण करते थे और मिश्र पाशुपत समान भाव से पंचदेवों की उपासना किया करते थे। वामन पुराण में शैव, पाशुपत, कालामुख और कपाली की चर्चा है। अनुश्रुति के अनुसार २८ शैव आगम और १५० उपागम थे। इन आगमों को निगम (अर्थात् वेद) के समान, और उनसे भिन्न स्वतंत्र प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है। काश्मीरका शैव-दर्शन इन आगमों से प्रभावित है। वैसे तंत्र-शास्त्र में निगम का अर्थ वेद माना भी नहीं जाता। 'आगम' शाक्त तंत्रों में उस शास्त्र को कहते हैं जिसे शिव ने देवी को सुनाया था और 'निगम' वह है जिसे शिव को स्वयं देवी ने ही सुनाया था। इस प्रकार ये संप्रदाय स्वयं भी वेदों को बहुत महत्व नहीं देते थे और वैदिक मार्ग के बड़े-बड़े आचार्य भी उन्हें अवैदिक समझते थे। हमने कौल-साधना के ब्राह्मणविरोधी स्वर का थोड़ा परिचय पिछले अध्यायों में पाया है।

क्रमशः ब्राह्मण मत प्रबल होता गया और इसलाम के आने के बाद सारा देश जब दो प्रधान प्रतिस्पर्द्धी धार्मिक दलों के रूप में विभक्त हो गया तो किनारे पर पड़े हुए अनेक संप्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। अधिकांश लोग ब्राह्मण और वेद-प्रधान हिंदू संप्रदाय में शामिल होने का प्रयत्न करने लगे। कुछ संप्रदाय मुसलमान भी हो गए। दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी के बाद क्रमशः वेदबाह्य संप्रदायों की यह प्रवृत्ति बढ़ती गई कि अपने को वेदानुयायी सिद्ध किया जाय। शैवों ने भी ऐसा किया और शाक्तों ने भी। परन्तु कुछ मार्ग इतने वेदविरोधी थे कि उनका सामंजस्य किसी प्रकार इन मतों में नहीं हो सका। वे धीरे धीरे मुसलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योग मार्ग में ऐसे अनेक मार्गों का संघटन किया होगा। हमने ऊपर देखा है कि उनके गुरु और गुरुभाई तथा गुरु स्तीर्थ कहे जाने वाले लोगों का मत भी उनका संप्रदाय माना जाने लगा है। इस पुस्तक में हमने जालंधरनाथ, मत्स्येंद्रनाथ

---

१. सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनाऽनेकप्रकारा। ··· माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्चपदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणोपायदिष्टाः पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमितिवर्णयन्ति ··· इत्यादि। शारीरक भाष्य २-२-३७।

और कृष्णपाद के प्राप्य ग्रंथों से उद्धरण देकर उनके मतों का साधारण परिचय दिया है। स्पष्ट ही वे लोग वेदों की परवा करने वाले न थे। इन सबके शिष्य और अनुयायी, भारतीय धर्मसाधना के उस उथल-पुथल के जमाने में गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संघटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विश्वास इतने दूरविभ्रष्ट थे कि वे किसी प्रकार योग मार्ग का अंग बन ही नहीं सकते थे, उन्हें उन्होंने स्वीकार नहीं किया। शिवजी के द्वारा प्रवर्तित जो संप्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए वे निश्चय ही बहुत पुराने थे। एक सरसरी निगाह से देखने पर भी स्पष्ट हो जायगा कि आज भी उन्हीं संप्रदायों में मुसलमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद में गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध, और, शाक्त-संप्रदाय थे जो वेदबाह्य होने के कारण न हिंदू थे और न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणों से देश दो प्रतिद्वंद्वी, धर्मसाधनामूलक दलों में विभक्त हो गया। जो शैव-मार्ग और शाक्त-मार्ग वेदानुयायी थे, वे बृहत्तर ब्राह्मणप्रधान हिंदू समाज में मिल गए और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। यह प्रयत्न आज भी जारी है। उत्तर भारत में ऐसे अनेक संप्रदाय थे जो वेदवाह्य होकर भी वेदसम्मत योगसाधना या पौराणिक देव-देवियों की उपासना किया करते थे। ये अपने को शैव, शाक्त और योगी कहते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों का पाया होगा—(१) एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, दूसरे (२) वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे—शैवागमों के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्षसम्मत योग मार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इनमें से जो लोग गोरक्षसम्मत मार्ग के नजदीक थे उन्हें उन्होंने योगमार्ग में स्वीकार कर लिया, बाकी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से ऐसे बहुत से संप्रदाय आगए जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे परन्तु बाद में उन्हें गोरक्षनाथी माना जाने लगा। धीरे धीरे जब परंपराएं लुप्त हो गईं तो उन पुराने संप्रदायों के मूल प्रवर्तकों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यर्थ का वाद-समूह स्वयमेव परास्त हो जाता है जो गोरक्षनाथ के काल-निर्णय के प्रसंग में पंडितों ने रचा है। इन तथा कथित शिष्यों के काल के अनुसार वे कभी आठवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं, कभी दसवीं, कभी ग्यारहवीं और कभी कभी तो पहली-दूसरी शताब्दी के भी !!

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आश्रित नहीं है। कभी कभी एकाध प्रमाण परंपराओं के भीतर से निकल भी आते हैं। शिव और गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों की परंपरा स्वयमेव एक प्रमाण है, नहीं तो यह समझ में नहीं आता कि क्यों कोई महागुरु अपने जीवितकाल में ही अनेक संप्रदायों का संगठन करेगा ? संप्रदाय मतभेद पर आधारित होते हैं और गुरु की अनुपस्थिति में ही मतभेद उत्पन्न होते हैं, गुरु के जीवितकाल में होते भी हैं तो गुरु उन्हें दूर कर देते हैं। परन्तु प्रमाण और भी हैं।

योगि संप्रदाया विष्कृति (पृ० ४१९-२०) में लिखा है कि धवलगिरि से लगभग ८०-९० कोस की दूरी पर पूर्व दिशा में, वर्तमान त्रिशूल गंगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाम मार्गी लोगों का एक दल एकत्रित हो कर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढ़े। बहुत छानबीन के बाद उन्होंने देखा कि आजकल श्री गोरक्षनाथ जी का यश चारों ओर फैल रहा है, यदि उनसे प्रार्थना की जाय कि वे हमें अपने मार्ग का अनुयायी स्वीकार करलें तो हम लोगों का मत लोकमान्य हो जाय। उन्होंने इसी उद्देश्य से उन्हें बुलाया। सब कुछ सुनकर श्री गोरक्षनाथ जी ने कहा कि "आप यथार्थ रीति से प्रकट कर दें कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं या प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर अपने अवलंबित मार्ग की वृद्धि करना चाहते हैं। यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अन्य सब झगड़ों को छोड़ कर केवल योगक्रियाओं से ही संबंध जोड़ लें। इसके अतिरिक्त यदि (अपने पहले से ही) गृहीत मत की पुष्टि करना चाहते हैं तो हम (यह) नहीं सह सकते कि साधुओं का कार्य जहां मुमुक्षुजनों को सन्मार्ग पर चढ़ा देना है वहां वे उन विचारों को कुत्सित पथ में प्रविष्ट करने के लिये कटिबद्ध हो जांय।" वाममार्गियों ने—जिन्हें लेखक ने यहां 'कापाली' लिखा है—दूसरी बात को ही स्वीकार किया और इसलिये गुरु गोरक्षनाथ ने उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी। यह पुराने संप्रदाय को अपने मार्ग में स्वीकार न करने का प्रमाण है।

पुराने मार्ग को स्वीकार करने का भी उदाहरण पाया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ जी जब गोरखबंसी (आधुनिक कलकत्ते के पास) आए थे तो वहां काली जी से उनकी मुठभेड़ हो गई थी। काली जी को हारना पड़ा था और उनके समस्त शाक्त शिष्य गोरक्षनाथ के योगमार्ग में शामिल हो गए। तभी से गोरक्ष-संप्रदाय में काली पूजा प्रचलित हुई। इन दिनों सारे भारतवर्ष में नाथ-पंथी लोगों में काली की पूजा प्रचलित है। यह कथा योगि संप्रदाया विष्कृति (पृ० १९४-१९९) में दी हुई है परन्तु लेखक की सुधारक मनोवृत्ति ने इतना जोड़ दिया है कि काली ने योगियों से मांसादि की बलि नहीं लेने की प्रतिज्ञा की थी। लेखक को इस बात का बड़ा खेद है कि आजकल "जिह्वास्वादन के वशीभूत योगिवेशधारी ठगिया और प्रपंची लोग" उस नियम का उल्लंघन कर रहे हैं! इस विषय का अधिक चर्चा करने के पहले एक बार आधुनिक पंथों और पुराने पंथों के संबंध पर विचार कर लिया जाय। संक्षेप में देखा जाय कि किस प्रकार मुख्य पंथों का संबंध शिव और गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित पुराने संप्रदायों के साथ स्थापित किया जाता है। नीचे का ब्यौरा उसी संबंध को बताने के लिये दिया जा रहा है। इसे तैयार करने में मुख्य रूप से ब्रिग्स साहब की पुस्तक का सहारा लिया गया है, परन्तु अन्य मूलों से प्राप्त जानकारियों को भी स्थान दिया गया है।

(१) शिव के द्वारा प्रवर्तित प्रथम संप्रदाय भुज के कण्ठर नाथी लोगों का है। कण्ठर नाथ के साथ अन्य किसी शाखा का संबन्ध नहीं खोजा जा सका है।

(२) और (३) शिवद्वारा प्रवर्तित पागलनाथ और रावल संप्रदाय परस्पर बहुत मिश्रित हो गये हैं। ध्यान देने की बात है कि गोरखपुर में सुनी हुई परंपरा

के अनुसार पागलनाथी संप्रदाय के प्रवर्तक पूरनभगत या चौरंगीनाथ हैं। ये राजा रसालू के वैमात्रेय भाई माने जाते हैं। ज्वालामुखी के माननाथ राजा रसालू के अनुयायी बताये जाते हैं, इसलिये कभी कभी माननाथ और उनके अनुवर्ती अर्जुन नागा या अरजननंगा को भी पागलपंथी मान लिया जाता है, वस्तुतः अरजननंगा नागार्जुन का नामान्तर है। फिर अफगानिस्तान के रावल—जो मुसलमान योगी हैं—दो संप्रदायों को अपने मत का मानते हैं—(१) मादिया और (२) गल। गल को ही पागलपंथी कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों शाखाओं से पागलपंथ का संबन्ध स्थापित होता है। इन लोगों को रावल गल्ला भी कहते हैं। इनका मुख्य स्थान रावलपिंडी में है—जो एक परंपरा के अनुसार पूरनभगत और राजा रसालू के प्रतापी पिता गज की पुरानी राजधानी थी। गजनी के पुराने शासक भी ये ही थे और गजनी नाम भी इनके नाम पर ही पड़ा था। गजनी का पुराना हिन्दू नाम 'गजबनी' था। बाद में गज ने स्यालकोट को अपनी राजधानी बनाया था। रावलों का स्थान पेशावर रोहतक और सुदूर अफगानिस्तान तक में है।

(४) पंख या पंक से निम्नलिखित संप्रदाय संबद्ध माने जा सकते हैं—

(i) सतनाथ या सत्यनाथी जिनकी प्रधान गद्दी पुरी में और जिनके अन्य स्थान मेवा थानेश्वर और करनाल में हैं। ये ब्रह्मा के अनुवर्ती कहे जाते हैं।

(ii) धर्मनाथ—जो कोई राजा थे और बाद में योगी हो गये थे।

(iii) गरीबनाथ जो धर्मनाथ के साथ ही कच्छ गए थे।

(iv) हाड़ीभरंग[1] (?)

(५) शिव के पाँचवें संप्रदाय मारवाड़ के 'बन' से किसी शाखा का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम हो सका।

(६) गोपाल या राम के –

(i) सन्तोषनाथ - ये ही सम्भवतः इसके मूल प्रवर्तक हों। कौलावलीनिर्णय और श्यामारहस्य के मानव गुरुओं में मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि के साथ इनका भी नाम है[2]।

(ii) जोधपुर में दासगोपालनाथियों का सम्बन्ध बताया जाता है।

---

१. पागलबाबा के कथनानुसार मैंने इन्हें सतनाथ से संबद्ध समझा है। परन्तु ब्रिग्स ने रसेल और हीरालाल (ट्रा. का. से. प्रो.) के आधार पर इनका सम्बन्ध किसी सन्तनाथ से बताया है। मैं यह ठीक नहीं कर सका कि सतनाथ और सन्तनाथ एक ही हैं या भिन्न भिन्न।

२. कौलावलीतंत्र, पृ० ७६

(७) चाँदनाथ कपिलानी—

(i) गंगानाथ

(ii) कायानाथ (परन्तु, आगे देखिए) .

(iii) कपिलानी—अजयपाल द्वारा प्रवर्तित।

(iv) नीमनाथ } दोनों जैन हैं।
(v) पारसनाथ }

(८) हेठनाथ —

(i) लक्ष्मणनाथ। कहते हैं, ये ही प्रसिद्ध योगी बालानाथ थे। (यो ग प्र वा.ह पृ० १८६) इसकी दो शाखाएं हैं—

(ii) दरियापंथ—हरद्वार के चंद्रनाथ योगी ने [1] इनको नाटेश्वरी (नाटेसरी) सम्प्रदाय का माना है और अलग स्वतंत्र पंथ होने में सन्देह उपस्थित किया है। परन्तु टिला में उद्भूत स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में भी इसकी ख्याति है। दरिया-पंथी साधु क्वेटा और अफगानिस्तान तक में हैं।

(iii) नाटेसरी—अंबाला और करनाल के हेठ तथा करनाल के बाल जाति वाले इसी शाखा के हैं। [2]

कुछ लोग कहते हैं, राँझा इसी संप्रदाय में थे। डा० बड़थ्वाल के मत से बालानाथ बालयती थे इसलिये उन्हें ही लक्ष्मणनाथ कहते हैं। पंजाब में बालानाथ का टीला प्रसिद्ध है।

(iv) जाफ़र पीर—अपने को ये लोग राँझा और बालकेश्वरनाथ के अनुयायी (या संबद्ध) मानते हैं, इसलिये इनका सम्बन्ध नाटेसरी संप्रदाय से जोड़ा भी जा सकता है। कभी कभी इनका सम्बन्ध संतोषनाथ से भी जोड़ा जाता है [3]। ये लोग मुसलमान हैं।

(९) आई पंथ के चोलीनाथ—ह ठ यो ग प्र दी पि का के घोड़ाचूली सिद्ध से इस संप्रदाय का संबंध होना संभव है। घोड़ाचूली परंपरा के अनुसार गोरखनाथ के गुरुभाई थे इनकी कुछ हिंदी रचनाएँ भी मिली हैं (यो० प्र०, पृ० ६८-७०)।

---

१. यो. सं. आ.: पृ० ४६१

२. ब्रिग्सः पृ० ६४-६५

३. वही, पृ० ७१

(i) आई पंथ का संबंध करकाई और भूष्टाई[1] दोनों से बताया जाता है। पागलबाबा के मत से करकाई ने ही आई पंथ का प्रवर्तन किया था। ये दोनों गोरखनाथ के शिष्य थे। हरद्वार के आईपंथी अपने,को पीर पारसनाथ का अनुयायी बताते हैं[2]। आईदेवी (=माता) की पूजा करने के कारण ये लोग आईपंथी कहलाए। ये लोग गोरखनाथ की शिष्या विमला देवी को अपनी मूल प्रवर्तिका मानते हैं। पहले ये लोग अपने नाम के आगे आई जोड़ा करते थे, नाथ नहीं। पर नरमाई के शिष्य मस्तनाथ जी के बाद ये लोग भी अपने नाम के आगे 'नाथ' जोड़ने लगे।

(ii) मस्तनाथ—ये लोग 'बाबा' कहे जाते हैं। गलती से कभी 'बाबा' अलग संप्रदाय मान लिया जाता है।[3]

iii) माई पंथ (?)

iv) बड़ी दरगाह (v) छोटी दरगाह	दोनों ही मस्तनाथ के शिष्य हैं। बड़ी वाले मांस-मदिरा नहीं सेवन करते छोटी वाले करते हैं।

(१०) वैराग पंथ, रतननाथ

(i) वैराग पंथ—भरथरी या भर्तृहरि द्वारा प्रवर्तित।

(ii) माई नाथ (?)—एक अनुश्रुति के अनुसार माईनाथ—जो अनाथ बालक थे और मेवों द्वारा पाले पोसे गए थे—भरथरी के अनुयायी थे।

(iii) प्रेमनाथ

(iv) रतननाथ—भर्तृहरि के शिष्य पेशावर के रतननाथ जो बाह्य मुद्रा नहीं धारण करते थे। कभी टोके जाने पर छाती खोल के मुद्रा दिखा दी थी—ऐसी प्रसिद्धि है। दरियानाथ से भी इनका संबंध बताया जाता है। मुसलमान योगियों में इनका बड़ा मान है। इनके नाम से संबद्ध तीर्थ काबुल और जलालाबाद में भी हैं।

---

१. आई पंथ वाले पहले अपने नाम के आगे आई जोड़ते थे, इसलिये ये लोग आई पंथ के अनुयायी ही होंगे, प्रवर्तक नहीं।

२. ब्रिग्स: पृ० ६५

३. यो. सं. आ.: पृ० ४६२

(v) कायानाथ या कायमुद्दीन—कायानाथ के शरीर के मल से बना हुआ बालक कायानाथ बाद में चलकर सिद्ध और संप्रदाय-प्रवर्तक हुआ ।

(११) जैपुर के पावनाथ—

(i) जालंधरिपा

(ii) पा-पंथ (?)

(iii) कानिपा—गोपीचंद्र इसी शाखा के सिद्ध हैं । गोपीचंद का ही नाम सिद्ध संगरी है । संपेरे इनको अपना गुरु मानते हैं[1] ।

(iv) बामारग (?)

(१२) धजनाथ—

(i) धजनाथ महावीर हनुमान के अनुयायी बताए जाते हैं । प्रसिद्धि है कि सिंहल में जब मत्स्येंद्रनाथ भोगरत थे उस समय उनका उद्धार करने गोरखनाथ गए थे । उनसे हनुमान की लड़ाई हुई थी[2] । बाद में हनुमान को उनका प्रभाव मानना पड़ा था । चौदहवीं शताब्दी के एक नाथ सिद्धों की सूची में 'धज' नामधारी दो सिद्धों का उल्लेख है[3] । विविकिधज और मगर धज । प्रसिद्धि है कि मकरध्वज हनुमान के पुत्र थे । संभवतः विविकिधज और मगरधज इस पंथ से संबद्ध हों । कहते हैं इनका स्थान सिंहल या सीलोन में है । परन्तु यह भूल है । आगे देखिए । डा० बड़थ्वाल ने लिखा है कि हनुमंत वस्तुतः वक्रनाथ नामक योगी का ही नामान्तर है[4] ।

ऊपर इन योगियों के मुख्य मुख्य स्थानों का उल्लेख किया गया है । वस्तुतः सारे भारतवर्ष में इनके मठ और अखाड़े हैं । अंगना (उदयपुर), आदिनाथ (बंगाल) कादिमठ (मद्रास), गंभीरमठ (पूना), गरीबनाथ का टिला (सारमौर स्टेट), गोरखक्षेत्र (गिरनार) गोरखवंशी (दमदम, बंगाल), चंद्रनाथ (बंगाल), चंचुलगिरिमठ

---

१. प्रसिद्धि है कि जब जालंधरनाथ को कानपा कुएँ से नहीं निकाल सके तो गोरखनाथ ने उनकी सहायता की । गुरु के उद्धार-महोत्सव में लोगों को मनोवांछित भोग दिया गया । किसी नवीन भक्त ने नाथ का प्रभाव देखने की गरज से मन ही मन सर्प की कामना की और पत्तल में सर्प आ गया । उसी अभिशप्त शिष्य के अनुयायी संपेरे हुए जो कानबेलिया कहे जाते हैं । किसी किसी ने इन्हें अलग संप्रदाय कहा है (तुल०-यो. सं. आ. ० ३३७-८) ।

२. यो. सं. आ.: पृ० १६१...

३. बौ. गा. दो.: पृ० ३६

४. यो ग प्र वा ह: पृ० १८६

(मद्रास प्रान्त) त्र्यम्बक मठ (नासिक), नीलकंठ महादेव (आगरा) लोहगरमठ (बीकानेर), पंचमुखीमहादेव (आगरा) पाण्डुधुनी (बंबई), पीर सोहर (जम्मू) बत्तीस सराला (सतारा) भर्तृगुफा (ग्वालियर), भर्तृगुफा (गिरनार), मंगलेश्वर (आगरा), महानादमंदिर (बर्दवान, बंगाल), महामंदिरमठ (जोधपुर), योगिगुहा (दिनाजपुर), योगिभवन (बगुड़ा, बंगाल), योगिमठ (मेदिनीपुर), कादुवास (उदयपुर), हांडीभरंगनाथ का मंदिर (मैसूर), हिंगुलामठ (जैपुर) आदि इनके मठ हैं जो समूचे भारतवर्ष में विस्तृत हैं[1]। यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पंथ का जो मुख्य स्थान है उसके अतिरिक्त और कोई स्थान उनके लिये आदरणीय नहीं है। वस्तुतः सभी पंथ सब स्थानों का सम्मान करते हैं। ऊपर के विवरण से निम्नलिखित पंथों का प्रसार जाना जाता है :

१. श्री अक्षयकुमार बंद्योपाध्याय : गोरखनाथ प्रसंग, पृ० ५१-५२
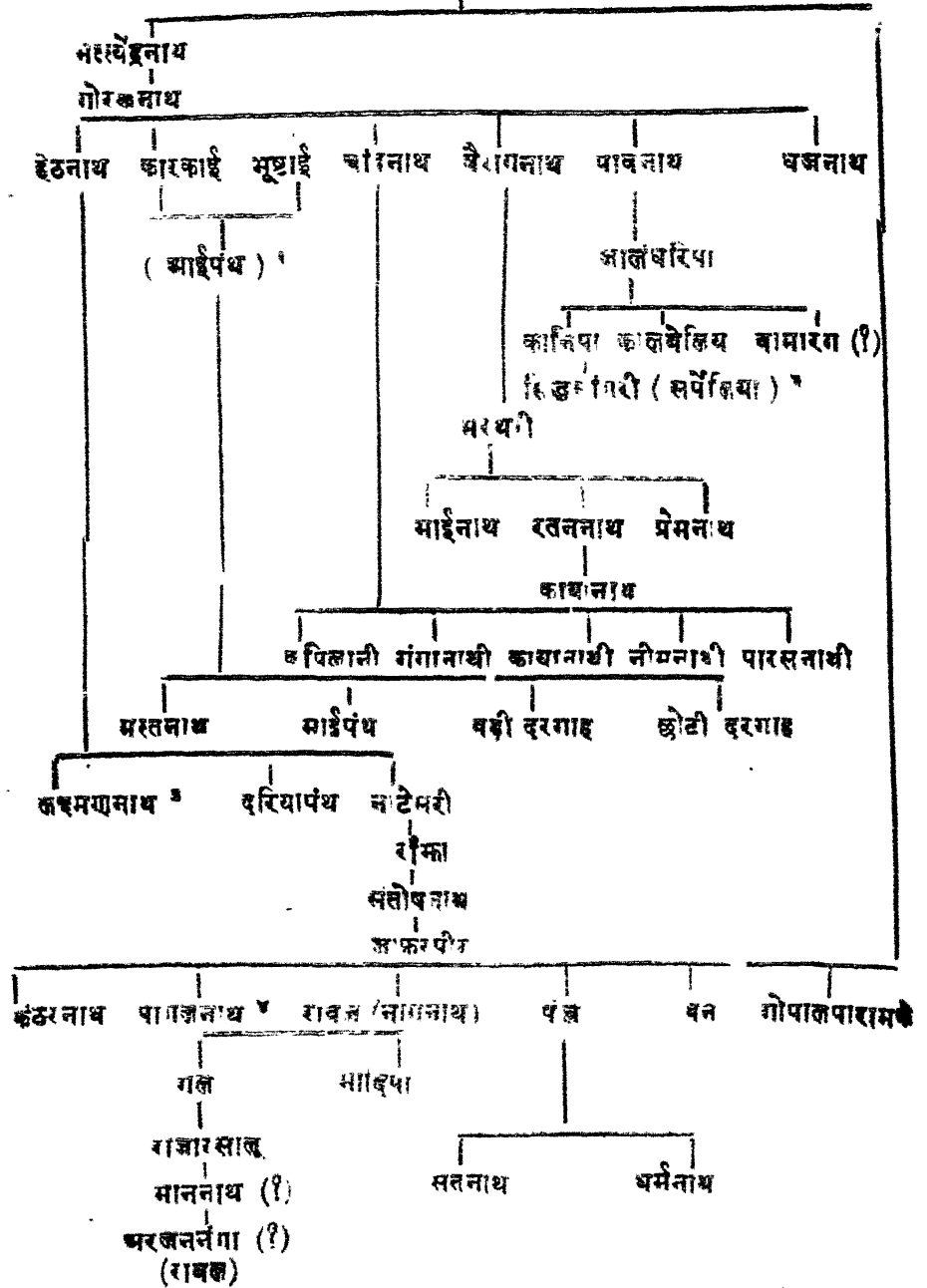
१. कोई कोई केवल कारकाई संप्रदाय से ही आईपंथ की उत्पत्ति मानते हैं।

२. कानवेलिय किसी किसी के मत में अलग अलग सम्प्रदाय नहीं है। सिद्धगारी ही कानपेलिय कहलाते हैं।

३. मतान्तर में लक्ष्मणनाथ से ही दरियानाथ और नाटेसरी की उत्पत्ति है।

४. किसी परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण पागलनाथी शाखा रावलों की उपशाखा है।

ध्यान से देखा जाय तो गोरक्षनाथ के प्रवर्तित संप्रदायों में कई नाम परिचित और पुराने हैं। कपिलानी अपना संबंध कपिलमुनि से बताते हैं और इनका मुख्यस्थान गंगासागर में है, जहाँ कपिलमुनि का आश्रम था। कपिलमुनि सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक माने जाते हैं। सांख्य और योग का घनिष्ठ संबंध इसके पहले ही लक्ष्य किया है। भागवत में कपिलमुनि योग और वैराग्य के उपदेष्टा के रूप में प्रसिद्ध हैं। सांख्यशास्त्र को निरीश्वर योग कहते हैं और योगदर्शन को सेश्वर सांख्य। ऐसा जान पड़ता है कि कपिलमुनि के अनुयायी, जो निरीश्वरवादी योगी थे, गोरक्षनाथ के मार्ग में बाद में आ मिले थे। चांदनाथ संभवतः वह प्रथम सिद्ध थे जिन्होंने गोरक्षमार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैनतीर्थंकरों के अनुयायी जान पड़ते हैं। जैनसाधना में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे। उनका यह संप्रदाय गोरक्षनाथ योगियों में अन्तर्भुक्त हुआ है। कहना व्यर्थ है कि जैनमत वेद और ब्राह्मण की प्रधानता नहीं मानता। भरथरी के वैरागपंथ पर आगे विचार किया जा रहा है। पावनाथ के जालंधरपाद संभवतः वज्रयानी सिद्ध थे। उनकी जितनी पोथियाँ मिली हैं वे सभी वज्रयान की हैं और उनके शिष्य कृष्णपाद की साधना का परिचय तो हमें मिल ही चुका है। कृष्णपाद ने स्वयं अपने को कापालिक कहा है, परन्तु कापालिक का अर्थ सब समय शैवकापालिक ही नहीं होता। जो हो, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि जालंधरपाद का पूरा का पूरा संप्रदाय बौद्ध वज्रयान से संबद्ध था। धजनाथ के विषय में आगे विचार किया जा रहा है। ये ही सभी पंथ भिन्न भिन्न धर्मसाधनाओं से संबद्ध होने पर भी योगमार्गी अवश्य थे।

आईपंथ वाले विमलादेवी के अनुयायी माने जाते हैं। आई अर्थात् माता। ये लोग अपने नाम के सामने नाथ न जोड़ कर आई जोड़ा करते थे। करकाई और भूष्टाई का वस्तुतः नाथपंथी नाम कर्कनाथ और भूष्टनाथ (शम्भुनाथ ?) होना चाहिए। माता की पूजा देखकर अनुमान होता है कि ये किसी शाक्तमत से गोरक्षनाथ के योगमार्ग में अन्तर्भुक्त हुए होंगे। विमलादेवी गोरक्षनाथ की शिष्या बताई जाती हैं परन्तु नित्याह्निकतिलक में एक महाप्रभावशालिनी सिद्धा विमलादेवी का नाम है, जो मत्स्येंद्रनाथ की मतानुवर्तिनी रही होंगी। उन्होंने गोरक्षनाथ से दीक्षा भी ली हो तो आश्चर्य नहीं। हस्तिनापुर में कोई वैश्य जाति के सेठ थे, नाम था शिवगण। उनकी पुत्री का नाम विमलदेवी था। गुप्तनाम श्री गुप्तदेवी था। एकबार भेरी के शब्द से इन्होंने बौद्धों को वित्रासित किया। तब से इनकी कीर्ति का नाम बौद्धत्रासिनी (बोधत्रासनी) माता पड़ गया। जब उनका जन्म हुआ तो स्त्रीरूप में उत्पन्न हुई थीं पर अधिकार-काल में पुरुष-मुद्रा में दिखीं और बलपूर्वक अधिकार दखल किया। परन्तु पशु लोग (पाखण्डी) उन्हें स्त्रीरूप में ही देखते थे। इनके दस नाम हैं—

विमला च शिखा चैव त्रिदेवी (च) सुशोभना।
नागकन्या कुमारी च चंचारणी पयोधारिणी
रक्ताभद्रा समाख्याता देव्या नामानि वै दश।
नामान्येतानि यो वेत्ति सोऽपि कौलाही (?) भवेत्॥[1]

यह कह सकना कठिन है कि यहाँ विमलादेवी आईपंथ की पूजनीया विमला देवी हैं या नहीं। मैंने अनुसंधित्सु पाठकों का ध्यान आकर्षण करने के लिये इस बात को यहाँ लिख दिया।

स्पष्ट ही, गोरक्षनाथद्वारा प्रवर्तित कहे जानेवाले पंथों में पुराने सांख्य-योगवादी, बौद्ध, जैन, शाक्त सभी हैं। सब की एकमात्र सामान्यधर्मिता योग मार्ग है।

शिव के द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय भी गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती होने चाहिए। इन्हें स्वीकार करके भी गोरक्षनाथ ने जब अपने नाम से इन्हें नहीं चलाया तो कुछ न कुछ कारण होना चाहिये। मेरा अनुमान है कि ये लोग मंत्र-तंत्र तो करते होंगे पर हठयोग सिद्धियों से कोई संबंध नहीं रखते होंगे। यह लक्ष्य करने की बात है कि शिव द्वारा प्रवर्तित कहे जानेवाले संप्रदायों का प्रसार अधिकतर काश्मीर, पश्चिमी पंजाब पेशावर और अफगानिस्तान में है, जहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से शैवमत प्रबल था। ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इससे कुछ अधिक कहना संभव नहीं है।

इस प्रकाश में कुछ उलझी हुई समस्याओं का विचार किया जाय।

(२) रावल-शाखा

१. रावलसंप्रदाय योगियों की बड़ी भारी शाखा है। कभी कभी कहा गया है कि यह रावल शब्द संस्कृत के 'राजकुल' शब्द का अपभ्रंश है। प्राचीनकाल के तीन राजवंशों ने यह विरुद धारण किया था—(१) मेवाड़के राजकुल ने,[2] (२) आबूके परमारों ने[3] और (३) जालोरके चौहानों ने[4]। और किसी राजघराने ने यह विरुद धारण किया था या नहीं यह नहीं मालूम हो सका है। परन्तु रावल शब्द से सबसे अधिक प्रसिद्धि चित्तौड़ के बाप्पा रावल को ही मिली थी। इस पर से यह अनुमान होता है कि रावलपंथ का किसी राजकुल से संबंध रहा होगा। यह ध्यान देने की बात है कि केवल बाप्पा के साथ यह शब्द अपने अपभ्रंश रूप में चलता है, अन्यान्य लेखों में संस्कृत 'राजकुल' शब्द का ही व्यवहार है। बाप्पा से गुरुगोरक्षनाथ के मिलन की

---

१. कौलज्ञाननिर्णय, भूमिका, पृ० ७०-७१

२. तां राजशाख्यां पदवीं दधानो बाप्पाभिधानः स रराज राजा।
—राजप्रशस्तिमहाकाव्य, सर्ग ३

३. एवमियं व्यवस्था श्री चंद्रावतीपति राजकुल श्रीसोमसिंह देवेन...
—आबू पर देलवाड़ाके मंदिर का प्रशस्ति-लेख

४. महाराजकुल श्रीसामन्तसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये...इत्यादि
—सांचोर का शिलालेख

प्रसिद्धि कई विद्वानों ने लिखी है। इस प्रसिद्धि के आधार पर गोरखनाथ का समय निर्णय करने का प्रयास भी किया गया है।

महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपने राजपूताने के इतिहास में बाप्पा का समय सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी का पूर्वभाग निश्चित किया है। महाराणा कुंभा के समय जो एकलिंग माहात्म्य नामक पुस्तक लिखी गई, उस में लिखा है कि पुराने कवियों ने कहा है कि संवत् ८१० वि० (ई० सन् ७५३) में एकलिंग का वर पाया हुआ प्रथम राजा बाप्पा हुआ।[1] ओझा जी ने इस वर्ष को बाप्पा के राज्य-त्याग का संवत् सिद्ध किया है। बाप्पा इसके पूर्व ही सिंहासनासीन हो गए थे।[2] परन्तु बाप्पा संबंधी प्रसिद्धियों के प्रसंग में ओझा जी ने गोरखनाथ वाली प्रसिद्धि की कोई चर्चा नहीं की है। बाप्पा और उनके गुरु के संबंध में जितनी प्रसिद्धियाँ हैं, उनमें बाप्पा के गुरु का नाम हारीतऋषि या हारीतराशि बताया गया है, जो लकुलीश पाशुपत संप्रदाय के कोई सिद्ध पुरुष थे। फ्लीट ने सन् १९०७ में एक प्रबंध लिखा था जिसमें एकलिंग जी के मन्दिर को लकुलीश संप्रदाय का सिद्ध किया था[3]। एकलिंग मंदिर में एक लेख पाया गया है जो सन् ९७१ ई० का लिखा है। इस लेख से इस मन्दिर की स्थिति बहुत पुरानी सिद्ध हो जाती है और ऐसा माना जा सकता है कि बाप्पा ने ही इस मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई होगा। इधर बाप्पा का एक सोने का सिक्का भी अजमेर से मिला है जो घिस जाने पर भी तौल में ६६ रत्ती के करीब है। इस सिक्के का जो विवरण प्रकाशित हुआ है[4] उससे यह निश्चित रूप में सिद्ध हो जाता है कि बाप्पा रावल वस्तुतः ही लकुलीश पाशुपत मत के अनुयायी थे। इसके सामने की तरफ (१) वर्तुलाकार माला के नीचे 'श्री बोप्प' लिखा हुआ है (२) माला के पास बाईं ओर एक त्रिशूल है (३) त्रिशूल की दाहिनी ओर दो पत्थरों की वेदी पर एक एक शिवलिंग है जो बाप्पा के इष्टदेव एकलिंग जी का सूचक है, (४) इसकी दाहिनी ओर नंदी है और (५) लिंग तथा नंदी के नीचे प्रणाम करते हुए बाप्पा का अधलेटा अंग है। पीछे की तरफ भी एक गौ खड़ी है "जो बाप्पा के प्रसिद्ध गुरु लकुलीश सम्प्रदाय के कनफड़े साधु (नाथ) हारीतराशि की कामधेनु होगी जिसकी सेवा बाप्पा ने की थी, ऐसी कथा प्रसिद्ध है"।[5] इस सिक्के के चिह्न सूचित करते हैं कि बाप्पा

---

१. उक्तं च पुरातनैः कविभिः

आकाशचंद्र दिग्गजसंख्ये संवत्सरे बभूवात्र।
श्रीएकलिंगशंकरलब्धवरो बाप्पभूपालः॥

२. राजपूताने का इतिहास: पृ० ४१२

३. जर्नल अव् रायल एशियाटिक सोसायटी: १९०७: पृ० ४९०

४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका: भाग १, पृ० २४१-५५ में म. म. पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का लेख।

५. राजपूताने का इतिहास: पृ० ४१५-४१६

लकुलीश[1] पाशुपतसम्प्रदाय के शिष्य थे। बाप्पा का सिक्का और उनके विषय में उपलब्ध प्रसिद्धियाँ दोनों ही इस बात का पक्का प्रमाण हैं कि वे लकुलीश संप्रदाय के बड़े भक्त थे। प्रायः भिन्न-भिन्न संप्रदाय के भक्त राजगण अपने नाम के साथ संप्रदाय-वाचक शब्द जोड़ा करते थे। बुद्ध के उपासक अपने को परम सौगत, विष्णु के उपासक परम भागवत और शिव के उपासक परम माहेश्वर जोड़ा करते थे। क्या रावल या महारावल शब्द भी संप्रदायवाचक है?

अथर्वशिर उपनिषद् में पाशुपतों के विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के पाए जाने से पंडितों ने अनुमान किया है कि अवान्तर उपनिषत्काल में इस संप्रदाय का जन्म हो चुका था[2]। इस संप्रदाय के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम लकुलीश या नकुलीश था। इनका जन्म बड़ौदा राज्य के कायावरोहण (कायारोहण, कारवान्, बड़ौदा राज्य) में हुआ था ऐसा कहा जाता है[3]। शिवपुराण में कारवण माहात्म्य है जो लकुलीश के जन्म-ग्राम की महिमा बताने के लिये लिखा गया है। लकुलीश की मूर्तियाँ राजपूताना, गुजरात, मालवा आदि में पाई गई हैं। इन मूर्तियों की बाह्य वेशभूषा भी उन्हें अन्य मूर्तियों से स्पष्ट रूप से विशिष्ट बना देती है। माथे पर बना केशकलाप, एक हाथ में बीजपूरक का फूल और दूसरे में लगुड (लाठी) इन मूर्तियों की विशेषता है। लगुडी अर्थात् लकुटि धारण करने के कारण ही लकुलीश को लकुलीश नाम मिला है।[4] मथुरा में उपलब्ध शैवस्तंभ तथा उस पर उत्कीर्ण शिलालेख के अध्ययन से लकुलीश का समय विक्रम के दो सौ वर्ष बाद ठहरता है। यह वही युग है जिसमें कुषाणवंशीय नरेश हुविष्क की सुवर्णमुद्राओं पर लकुटधारी शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं।[5]

---

१. 'इस समय उस संप्रदाय का माननेवाला कोई नहीं रहा, यहाँ तक कि लोग बहुधा उस संप्रदाय का नाम भी भूल गए हैं, परन्तु प्राचीन काल में उसके अनुयायी बहुत थे जिनमें मुख्य साधु (कनफड़े, नाथ) होते थे। उस संप्रदाय का विशेष वृत्तान्त शिलालेखों तथा विष्णुपुराण, लिंगपुराण आदि में मिलता है। लकुलीश उस संप्रदाय का प्रवर्तक होना चाहिए। उनके मुख्य चार शिष्यों के नाम कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य मिलते हैं। एकलिंग जी के पुजारी कुशिक की परंपरा में से थे जिनमें से हारीतराशि बाप्पा का गुरु माना जाता है। इस संप्रदाय के साधु निहंग होते थे, गृहस्थ नहीं और मूंडकर चेला बनाते थे। उनमें जातिपाँति का कोई भेद न था।"—राजपूताने का इतिहास (पृ० ४१६) में ओझा जी की टिप्पणी।

२. पं० बलदेव उपाध्याय: विश्व-भारती पत्रिका, खण्ड १, पृ० २४५

३. म. म. पं० गौ० ही० ओझा: राजपूताने का इतिहास, पृ० ४१६

४. विश्वभारती पत्रिका: खण्ड १, पृ० २४२

५. वही: पृ० २४६

लकुलि, लगुलि (=लाठी ?) आदि शब्दों का रूप ही सूचित करता है कि ये देशी शब्दों के संस्कृत रूप हैं। लकुलीश पाशुपतमत प्रधानतया निचले स्तर के लोगों में बहुत प्रचलित था। वैदिक और भागवत लोग शुरू शुरू में इस मत को सिर्फ अवैदिक ही नहीं मानते थे, इसके मानने वालों को पापयोनि में उत्पन्न भी मानते थे। भागवत में एक स्थान पर इनको सच्छास्त्र परिपंथी कहा गया है और पाखण्डियों को इस दीक्षा में प्रवेश करने का अभिशाप दिया गया है।[1] रावल वस्तुतः इसी 'लाकुल' शब्द का रूपान्तर है। सातवीं शताब्दी के पहले ये लोग कुछ सम्मान पाने लगे थे, क्योंकि इनमें कुछ असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् पैदा हो गये थे। आठवीं शताब्दी में बाप्पा ने जब रावल उपाधि धारण की तो वस्तुतः उन्होंने अपने को अपने विशिष्ट संप्रदाय का अनन्य भक्त सिद्ध करना चाहा था। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि गोरखनाथ के संप्रदाय में रावल या लाकुल पाशुपत मिल गये थे। भाण्डारकर ने लिखा है कि सन् ९४१ से आरंभ करके सन् १२८५ ई० तक की प्रशस्तियों में शैव मात्र को लकुलीश कहा गया है।[2] सन् १२८७ का एक लेख सोमनाथ में प्राप्त हुआ है जिसमें गोरखनाथ का नाम लकुलीश के साथ लिया गया है।[3] यह भी लक्ष्य करने की बात है कि धर्मनाथ के विषय में एक अनुश्रुति इस प्रकार की है कि वे पेशावर से घिनोधर आए थे और धारणदेवी नामक विधवा के हाथ में से पुनर्वार पैदा हुए थे और इस पुनरुद्भूत सिद्ध का नाम 'रावल पीर' पड़ा था। 'रावल पीर' शब्द ही 'लाकुल गुरु' की याद दिलाता है। इस पर से मेरा अनुमान है कि रावल नाम से प्रसिद्ध योगियों की समूची शाखा वस्तुतः लकुलीश पाशुपत संप्रदाय की उत्तराधिकारी है। इन लोगों में जाति पाँति का बंधन पहले भी नहीं था इसलिये ये लोग क्रमशः मुसलमान होते गए। शुरू शुरू में जब गोरखनाथ ने शैव और योगमूलक संप्रदायों का संगठन किया होगा तो इन्हें संप्रदाय में इसलिये स्वीकार किया होगा कि उन दिनों ये शास्त्रीय संप्रदाय की प्रतिष्ठा पा गए थे। इन में योग-प्रक्रिया भी पर्याप्त मात्रा में थी। गोरखनाथ

---

१. भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपंथिनः
नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ॥

—भागवत, ४।२

२. रायल एशियाटिक सोसायटी की बंबई शाखा के जर्नल (जिल्द २२, पृ०१५१ और आगे) में डाक्टर डी० आर० भाण्डारकर ने लिखा है राजपूताने के अनेक मन्दिरों में उन्होंने लकुटधारी शिवमूर्तियाँ देखी हैं। ये सभी द्विभुज मूर्तियाँ और उनके एक हाथ में लकुट है। इन द्विभुज मूर्तियों को देखकर भाण्डारकर ने यह अनुमान किया है कि ये मूर्तियाँ किसी ऐसे सिद्ध की स्मारिका हैं जो बाद में चलकर शिव का अवतार मान लिए गए थे। लकुलीश वही सिद्ध थे।

३ ब्रिग्स: पृ० २४०

के पंथ में आने के बाद, जैसा कि हुआ करता है, इन लोगों के संप्रदाय में गोरखनाथ लकुलीश के अवतार मान लिये गए होंगे और बाप्पा रावल के साथ गोरखनाथ के संबंध की कहानी चल पड़ी होगी।[1]

इस प्रसंग में एक उल्लेखयोग्य तथ्य की चर्चा करना असंगत नहीं है। सोमनाथ में उपलब्ध चिन्त्रप्रशस्ति में दाता का नाम उलूकराज लिखा हुआ है। भाण्डारकर ने लिखा है कि शिव के दो अवतारों के नाम उलूक थे और इस प्रशस्ति के उलूक वैसे ही किसी शैव संप्रदाय के उपासक होंगे। परन्तु फ्लीट ने वा यु पु रा ण या लिं ग पु रा ण में कोई ऐसा प्रमाण नहीं पाया।

अब भी, उलूक कौन थे इस विषय में पंडितों ने तरह तरह के अनुमान किए हैं। म हा भा र त (सभापर्व २७.५) में लिखा है कि जब अर्जुन उत्तर देश जय करने गए थे 'उलूक' नाम की एक जाति से उनका सामना हुआ था। वे लोग संभवतः 'उलूक' टोटेमवाली जाति के थे। अब लक्ष्य करने की बात है कि संस्कृत में उलूक का पर्याय 'कौशिक' भी है। क्यों कौशिक शब्द उलूक का वाचक हो गया इसका कोई संगत कारण अभी तक नहीं बताया जा सका है। परन्तु उलूक लाकुलीश संप्रदाय के शैव थे। लकुलीश के साक्षात् शिष्य का नाम 'कुशिक' था। 'उलूक' जाति के लोग इन्हीं कुशिक की परंपरा में पड़ने के कारण 'कौशिक' कहे जाते होंगे पुरानी परंपरा के भूल जाने पर 'कौशिक' शब्द उलूक पंछी का पर्याय समझ लिया गया है। इस व्याख्या से 'उलूक' जाति संबंधी वाद का एक युक्तिसंगत निर्णय हो जाता है। शकुनि के एक भाई का नाम भी 'उलूक' था। इस पर से फ्लीट ने अनुमान किया है कि 'उलूक' जाति या तो उस की वंशज है या फिर 'उलूक' कोई जाति ही है। शकुनि गांधार के राजा थे इसलिये उलूकों का स्थान उधर ही हो सकता है। यह लक्ष्य करने की बात है कि रावलों के प्रधान पीठ अब भी अफगानिस्तान में ही अधिक हैं।

स र्व द र्श न सं ग्र ह में कणाद-दर्शन को ही औलूक्य दर्शन कहा गया है। इस नाम के कारण टीकाकार ने दो बताए हैं। एक तो यह कि कणाद उलूक ऋषि के वंशज थे। दूसरा यह कि शिव जी ने उलूक का रूप धारण करके कणाद मुनि को छः पदार्थों के ज्ञान का उपदेश दिया था। कणाद का वैशेषिक दर्शन प्रसिद्ध है। स र्व द र्श न सं ग्र ह में किसी प्राचीन ग्रंथ का एक श्लोक उद्धृत करके बताया गया है कि

---

१. इस विषय में अनुसंधित्सु पाठकों की जानकारी के लिये एक और बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। रावल अपने को नागनाथ का अनुयायी कहते हैं। लकुलीश की मूर्तियों को अभी तक इतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया है कि उनके चित्र प्रकाशित हों, इस लिये उन मूर्तियों की विशेषता के विषय में कुछ कह सकना कठिन है। परन्तु डा० बर्जेस ने एलोरा (वेरूल) की गुफाओं में एक शिव के योगी चित्र का अंकन प्रकाशित किया है। उसमें शिव बाएं हाथ में लाठी लिए हुए पद्म पर समासीन हैं और पद्म नागों की फणा पर है। फ्लीट ने इसको लकुलीश मूर्ति माना है। इससे रावलों के नागनाथी होने पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

किस दृढ़ता से ये लोग शिव के साक्षात्कार को मुक्ति (दुःख निवृत्ति) का उपाय मानते थे। जिस दिन आदमी आसमान को इस प्रकार ढक लेंगे जिस प्रकार चमड़े से कोई बर्तन ढका जाता है उसी दिन वे शिव को जाने बिना भी दुःख का अन्त पा जायेंगे![1] अर्थात् शिव को जाने बिना परमसुख का मिलना असंभव है। आगमों को पढ़कर महेश्वर के गुण को सुनना, सुने हुए को अनुमान से ठीक ठीक समझना और समझे हुए को ध्यानाभ्यास से मन में बार-बार अनुभव करना—तीन प्रकार से अपनी बुद्धि को शिव में लगाने से उत्तम योग प्राप्त होता है।[2] कौलुक्य लोगों का यही विश्वास है।

(३) पूरन भगत और राजा रसालू

पूरन भगत (चौरंगीनाथ) और राजा रसालू—सारे पंजाब में और सुदूर अफगानिस्तान तक में पूरन भगत और राजा रसालू की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ही सियालकोट के राजा सालबाहन (शालिवाहन) के पुत्र बताए जाते हैं। कहते हैं, पूरन भगत अन्त में बहुत बड़े योगी हो गए थे और चौरंगीनाथ नाम से प्रसिद्ध हुए। मियाँ कादरयार की लिखी हुई एक पंजाबी कहानी प र सं ग पू र न भ ग त गुरुमुखी अक्षरों में छपी है। कहानी का सारांश इस प्रकार है :

पूरनभगत उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के वंशज थे। उनके बापदादों ने सियालकोट के थाने पर अधिकार कर लिया था। इनके पिता का नाम सलवान (सालबाहन-शालिवाहन) था। जन्म के बाद ज्योतिषी के आदेशानुसार पूरन बारह वर्ष तक एकान्त में रखे गए थे। इस बीच राजा ने लूणा नामक एक चमार की युवती से शादी कर ली। एकान्तवास के बाद पूरन अपने माँ बाप से मिले। उन्होंने सहजभाव से बिमाता को 'माँ' कहकर पुकारा, इसपर गर्विणी नई रानी का यौवनभाव आहत हुआ। उसने कई अपप्रस्ताव किए। अन्त में पूरनभगत के सरल स्वभाव से उसकी उद्दामता अत्यन्त प्रबल हो उठी। ईर्ष्या से अन्धी होकर इस रानी ने राजा से उल्टी-सीधी लगाकर पूरन के हाथ पैर कटवाकर और आँखें फुड़वाकर कुएँ में डलवा दिया। इस कुएँ से गुरु गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। गुरु के आशीर्वाद से उनके हाथ पैर और आँखें फिर से मिलीं। जब वे नगर लौटकर गए और उनके पिता को इस छल का पता लगा तो राजा ने कठोर दण्ड देना चाहा पर पूरन ने निषेध किया। पूरन की माँ रो-रोकर अन्धी हो गई थी। पूरन की कृपा से उन्हें आँखें मिलीं और उन्हीं के वरदान से

१. यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यंति मानवाः।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥—म० द० सं०, पृ० २१

२. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।'— वही पृ० २१

पुत्र भी हुआ। पिता ने आग्रह-पूर्वक उन्हें राज सिंहासन देना चाहा पर पूरन ने अस्वीकार कर दिया। अन्त में वे गुरु के पास लौट गए और बड़े भारी सिद्ध हुए। हाथ पैर कट जाने के कारण वे चौरंगी हुए थे। इसीलिये इनका नाम चौरंगीनाथ हुआ। स्यालकोट में अब भी वह कुआँ दिखाया जाता है जहाँ पूरन भगत को फेंका गया था।

पूरन भगत की यह कहानी यो. सं. आ. में भी दी हुई है (पृ० ३७२)। वहाँ स्यालकोट का नाम शालीपुर दिया हुआ है। संभवतः ग्रन्थकार ने स्याल का शुद्ध संस्कृत रूप 'शालि' समझा है। परन्तु वास्तव में पुराना नाम 'साकल' है।

राजा रसालू पूरन भगत के वैमात्रेय भाई थे। इनके समय को लेकर पंडितों ने अनेक अनुमान भिड़ाए हैं। सन् १८८४ ई० में टेम्पुल ने खोज करके देखा कि राजा रसालू का समय सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी हो सकता है। उनके अनुमान का आधार यह था कि पंजाब की दो जाट जातियाँ—सिद्ध और संसी—अपने को इनके वंश का बताती हैं। सिद्ध लोग अपना संबंध जैसलमेर के संस्थापक जैसल नामक राजपूत राजा से बताते हैं। इस राजा की मृत्यु सन् ११६८ ई० में हुई थी और इसने जैसलमेर की स्थापना सन् ११५९ ई० में की थी। संसी लोग और भी पुराने काल से अपना संबंध बताते हैं। वे अपने को सालबाहन के पिता राजा गज के वंशधर मानते हैं। टाड ने लिखा है कि राजा गज से गजनी के सुलतान की लड़ाई हुई थी। अन्त तक गज हार गया था और पूरब ओर हटने को बाध्य हुआ था। उसीने स्यालकोट की स्थापना की थी। बाद में उसने गजनी को भी अपने अधिकार में कर लिया था। यह सातवीं शताब्दी के अन्त की घटना है और इस प्रकार राजा रसालू का काल आठवीं शदी होता है। अरबी इतिहास-लेखकों ने आठवीं शताब्दी के प्रतापी हिन्दू राजा की बहुत चर्चा की है। उसके नाम को नानाभाव से लिखा है। एक दूसरा प्रमाण भी इस विषय में संग्रह किया जा सका है। रिसल नामक एक हिंदू राजा के साथ मुहम्मद कासिम ने सिंध में संधि की थी। संधि का समय आठवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग है। इस प्रकार टेम्पुल ने अनुमान किया कि रिसल असल में रसालू ही होगा और उसका समय आठवीं शताब्दी के आदिभाग में होना चाहिए[1]. कुछ पंडितों ने तो राजा शालिबाहन को शकसंवत् का प्रवर्तक माना है। डा० हविसन ने इन्हें पँवार राजपूत माना है। ये इनके मत से यदुवंशी राजपूत थे और रावलपिण्डी—जिसका पुराना नाम गजपुरी है—इनकी राजधानी थी। बाद में सीथियनों से घोर युद्ध के बाद इन्हें पूरब की ओर हटना पड़ा। तभी स्यालकोट में इनकी राजधानी हुई। ब्रिग्स साहब ने इन सब बातों पर विचार करके यही निष्कर्ष निकाला है कि यह सब कहानियाँ केवल यही सिद्ध करती हैं कि राजा रसालू के समय में सीमान्त पर हिंदुओं और विधर्मियों का जबर्दस्त संघर्ष चल रहा था और इसीलिये पूरन भगत और राजा रसालू का समय वस्तुतः ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व में ही होना चाहिए।[2]

स्पष्ट ही है कि राजा रसालू या पूरनभगत को ग्यारहवीं शताब्दी में खींच ले आने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। केवल अनुमान के बल पर समस्त प्रकार

१, २. ब्रिग्स : पृ० २३९-२४१

की परम्पराओं और ऐतिहासिक सचाइयों के विरुद्ध कोई निर्णय करना साहस मात्र है। परम्पराएं और ऐतिहासिक प्रमाण स्पष्टरूप से पूरनभगत और राजा रसालू को गोरखनाथ के पूर्व ले जाते हैं। इसका एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि वस्तुतः ही ये दोनों गोरखनाथ के पूर्ववर्ती हैं। उनके द्वारा प्रवर्तित या समर्थित शैव साधकों में कुछ योगाचार रहा होगा जिसे गोरखनाथ ने नये सिरे से अपने मत में शामिल कर लिया होगा। उनको गोरखनाथ का शिष्य बताने वाली कहानियां परवर्ती हैं। गोरखनाथ अपने काल के इतने प्रसिद्ध महापुरुष हुए थे कि उनका नाम अपने पंथ के पुरोभाग में रखे बिना उन दिनों किसी को गौरव मिलना संभव नहीं था। जो लोग वर्णविमुखता और ब्राह्मणविरोधिता के कारण समाज में अगृहीत रह जाते, वे उनकी कृपा से ही प्रतिष्ठा पा सकते थे।

इस प्रकार पूर्ववर्ती सम्प्रदाय का नवोदित शक्तिशाली संप्रदाय में अन्तर्भुक्त होना अनहोनी बात नहीं है। परवर्ती इतिहास में इसके अनेक प्रमाण हैं। चैतन्यदेव के नवोदित भक्ति-मार्ग में अनेक तांत्रिकमत प्रवेश कर गए थे। नित्यानंद के साथ बहुत बड़ा अर्धबौद्ध दल उस संप्रदाय में आगया था। सूरदास गऊघाट पर रहा करते थे और शिष्य बनाया करते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य से जब वे प्रभावित हुए तो समस्त शिष्य वल्लभसंप्रदाय में प्रविष्ट हो गये। कबीरदास के पंथ में अनेक पूर्ववर्ती योगी जातियाँ शामिल हो गई थीं—यह हम अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में दिखा चुके हैं। यह लक्ष्य करने की बात है कि रावल लोग—जो वस्तुतः लाकुल या लकुलीश संप्रदाय के पाशुपत थे—अपना संबंध राजा रसालू से बताते हैं और उनकी एक प्रधान शाखा—गल या पागल पंथी—चौरंगीनाथ को अपना मूल प्रवर्त्तक मानते हैं। चौरंगीनाथ पूरनभगत का ही नामान्तर बताया जाता है।

(४) पुरी के सतनाथ

यह भी शिव द्वारा प्रवर्तित पंक या पंख शाखा से संबद्ध बताया जाता है। धरमनाथ इसी संप्रदाय के थे जिनके विषय में प्रसिद्धि है कि रावल पीर के रूप में पुनर्बार अवतरित हुए थे। इन दिनों भी पुरी के सतनाथी लोग अपने को अन्यान्य संप्रदायों से कुछ विशिष्ट मानते हैं। सन् १९२४ में पुरी के महन्त ने ब्रिग्स साहब को बताया था कि वे लोग कपड़े से लिपटा हुआ जो एक तृणदण्ड रखते हैं, वह उनका विशेष चिह्न है[१]। इसे वे लोग 'सुदर्शन' कहते हैं। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि लगुड़ि या लाठी लकुलीश की विशेषता है। ब्रिग्स साहब को भी इस दण्ड को देखकर सन्देह हुआ है कि यह लकुलीश संप्रदाय का अवशेष होगा[२]। लकुलीश संप्रदाय में किस प्रकार का लगुड़ धारण किया जाता था, उसका आभास हुविष्क की सुवर्ण मुद्राओं

---

१. ब्रिग्स : पृ० १२४
२. वही : पृ० १२, टिप्पणी

से मिल जाता है[1]। लकुट शिव क्यों धारण करते हैं ? इस मत के अनुसार समस्त बद्धजीव 'पशु' हैं और शिव एक मात्र स्वतंत्र पशुपति हैं। पशुओं अर्थात् बद्धजीवों का नियमन ही लकुट या लगुड धारण करने का उद्देश्य है। इस प्रसंग में यह उल्लेख योग्य है कि दीर्घकाल से गोरक्षपंथीयोगी एक प्रकार का दंड या डंडा धारण करते आ रहे हैं। कबीरदास ने भी इस डंडे को लक्ष्य किया था और मलिक मुहम्मद जायसी ने भी।[2]

यह खूब सम्भव है कि जिसे सतनाथी साधु 'सुदर्शन' कहते हैं वह लाकुलीशों के लकुल का अवशेष हो। तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी तक सतनाथी ब्रह्मनाथ को 'रावल' समझा गया था। इस पर से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि सतनाथी शाखा भी पाशुपतों की ही कोई शाखा होगी जो बाद में गोरक्षनाथ के प्रभाव में आई होगी।

शिव के अन्यान्य संप्रदायों के बारे में विशेष कुछ ज्ञात नहीं हो सका है किन्तु अधिक शोध करने पर उनका भी संबंध किसी न किसी पुराने शैवसंप्रदाय से अवश्य सिद्ध होगा।

पाठकों को यह जानने की इच्छा हो सकती है कि लकुलीश मत के मान्य सिद्धान्त क्या थे[3]। अभी तक इस संप्रदाय का उल्लेख योग्य एक ही ग्रंथ अनन्तशयन संस्कृत ग्रंथमाला में कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थभाष्य के साथ प्रकाशित हुआ है। इन पाशुपतों के अनुसार पांच ही पदार्थ होते हैं, कारण, कार्य, योग, विधि और दुःखान्त। इनमें (१) कारण तो साक्षात् पशुपति अर्थात् शिव ही हैं, (२) कार्य तीन है, (i) बद्धजीव जिसे 'पशु' कहा जाता है, (ii) उसका ज्ञान (विद्या) और (iii) उसे परतंत्र बनाने वाली जड़ वस्तु (कला)। जो पशु (जीव) शरीर और इंद्रियों को

---

१. जे. एफ़ फ़्लीट ने रायल एशियाटिक सोसायटी के सन् १९०७ ई० के जर्नल (पृ० ४२१ की पाद टिप्पणी) में लिखा है कि लकुल 'खट्वांग' नामक शिव के शस्त्र का पर्याय होगा। 'खट्वांग' खटिया के पाये के आकार का शस्त्र होता था जो बहुत कुछ गदा के समान ही समझा जाना चाहिए। यह लक्ष्य करने की बात है कि दक्षिण के पह्लव राजा लोग अपनी पताकाओं पर खट्वांग का चिह्न व्यवहार किया करतें थे। फ़्लीट ने कहा है कि यदि लकुल और खट्वांग एक ही हों तो इन पह्लवों को भी लकुल-संप्रदाय का अनुयायी समझना चाहिए

२. कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा ॥
मुंदरा स्रवन कंठ जपमाला। कर उपदान कांध बघछाला ॥
—पदुमावती, पृ० २३८

३. हिंदी पाठक निम्नलिखित प्रबंध पढ़ सकते हैं :
(१) नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० २५६-७ में पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा की टिप्पणी।
(२) विश्वभारती पत्रिका (खंड १, पृ० २४२-२४६) में पं० बलदेव उपाध्याय का लेख

धारण किये रहता है वह 'सांजन' कहलाता है और जो इनसे मुक्त हो गया होता है वह निरंजन। (३) चित्तद्वार से आत्मा और ईश्वर के संयोग को योग कहते हैं और (४) बाह्य आचारों की विधि। विधि दो प्रकार की होती है, व्रत और द्वार। भस्मस्नान, भस्मशयन, उपहार, जप, प्रदक्षिणा आदि व्रत हैं। इन लोगों की विधियों में नाचना, गाना, अट्टहास करना, क्रीडा स्वांग करना, अनर्गल बकना, लोकनिंदित कार्य करना, उच्छिष्टभक्षण आदि का भी उल्लेख है। (५) दुःखान्त दुःख से परनिवृत्ति या मोक्ष को कहते हैं, जो योग और विधि द्वारा प्राप्त होता है। स र्व द र्श न सं ग्र ह में इनके मत की विस्तृत चर्चा है। वहाँ बताया गया है कि ये लोग वैष्णवों की बताई हुई मुक्ति को सर्वदुःख से निवृत्ति नहीं मानते क्योंकि वैष्णव लोगों का विश्वास है कि आत्मा मुक्त होने पर भी विष्णु का सेवक बना रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसको पारतंत्र्य दुःख से निवृत्ति नहीं हुई। पर इनके मत से मुक्त होने पर जीव परमेश्वर के गुण से युक्त होकर उन्हीं के समान हो जाता है।[1]

(५) योगमार्गीय शाखा

गोरखनाथ के प्रवर्तित छः मार्ग बताए जाते हैं। इनमें जिन पथों का पुराना परिचय प्राप्त है, वे मुख्यतः योगमार्गीय हैं। उनमें कई प्रकार की पुरानी साधनाओं के भग्नावशेष अब भी पाए जा सकते हैं। इनमें वाममार्गी, शाक्त, बौद्ध और संभवत. वैष्णवयोगपरक संप्रदाय अंतर्भुक्त हुए हैं। कुछ इनमें ऐसे हैं, जिनका कोई पुराना संबंध नहीं खोजा जा सका। परन्तु अधिकांश ऐसे हैं जिनका पुराना संबंध आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। अब यह बात अविवादित नहीं रही कि नवीं शताब्दी के पहले लगभग सभी संप्रदायों में योगमार्ग और तांत्रिक क्रियाओं का प्रचार हो गया था। क्या वैष्णव और क्या शैव, सभी में मंत्र, मुद्रा, योग, चक्र आदि की उपासना प्रचलित हो गई। शैव और वैष्णव दोनों ही संप्रदायों में आगमों और संहिताओं की प्रामाण्यता स्वीकृत हुई। आगम तीन प्रकार के हैं, वैष्णवागम या संहिताएं, शैवागम और शाक्तआगम या तंत्र। हमें पूर्ववर्ती अध्यायों में शैव और शाक्त आगमों का परिचय थोड़ा बहुत मिल चुका है। इस स्थान पर प्रसंग प्राप्त वैष्णव-संहिताओं की संक्षिप्त चर्चा कर लेने से आगे कही जाने वाली बात कुछ अधिक स्पष्ट होगी।

वैष्णवागम दो प्रकार के हैं: पां च रा त्र सं हि ता एं और वै खा न स सू त्र। दक्षिण में अब भी ऐसे बहुत से मंदिर हैं जहाँ वैखानस संहिताओं का व्यवहार होता है; परन्तु प्राचीन काल में और अधिक होता था। कहते हैं, रामानुजाचार्य के हस्तक्षेप से वैखानस संहिताओं का व्यवहार उठ गया और उनके स्थान पर पांचरात्र संहिताओं का प्रचार बढ़ा। तिरुपति के वेंकटेश्वर मंदिर तथा कांजीवरम के कई मंदिरों में अब भी वैखानस संहिताएं व्यवहृत होती हैं। पांचरात्र संहिताओं और वैखानस संहिताओं की

---

१. स०द०सं०: पृ० १६१

से मिल जाता है[1]। लकुट शिव क्यों धारण करते हैं? इस मत के अनुसार समस्त बद्धजीव 'पशु' हैं और शिव एक मात्र स्वतंत्र पशुपति हैं। पशुओं अर्थात् बद्धजीवों का नियमन ही लकुट या लगुल धारण करने का उद्देश्य है। इस प्रसंग में यह उल्लेख योग्य है कि दीर्घकाल से गोरक्षपंथीयोगी एक प्रकार का दंड या डंडा धारण करते आ रहे हैं। कबीरदास ने भी इस डंडे को लक्ष्य किया था और मलिक मुहम्मद जायसी ने भी।[2]

यह खूब सभव है कि जिसे सतनाथी साधु 'सुदर्शन' कहते हैं वह लाकुलीशों के लकुल का अवशेष हो। तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी तक सतनाथी धरमनाथ को 'रावल' समझा गया था। इस पर से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि सतनाथी शाखा भी पाशुपतों की ही कोई शाखा होगी जो बाद में गोरखनाथ के प्रभाव में आई होगी।

शिव के अन्यान्य संप्रदायों के बारे में विशेष कुछ ज्ञात नहीं हो सका है किन्तु अधिक शोध करने पर उनका भी संबंध किसी न किसी पुराने शैवसंप्रदाय से अवश्य सिद्ध होगा।

पाठकों को यह जानने की इच्छा हो सकती है कि लकुलीश मत के मान्य सिद्धान्त क्या थे[3]। अभी तक इस संप्रदाय का उल्लेख योग्य एक ही ग्रंथ अनन्तशयन संस्कृत ग्रंथमाला में कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थभाष्य के साथ प्रकाशित हुआ है। इन पाशुपतों के अनुसार पांच ही पदार्थ होते हैं, कारण, कार्य, योग, विधि और दुःखान्त। इनमें (१) कारण तो साक्षात् पशुपति अर्थात् शिव ही हैं, (२) कार्य तीन है, (i) बद्धजीव जिसे 'पशु' कहा जाता है, (ii) उसका ज्ञान (विद्या) और (iii) उसे परतंत्र बनाने वाली जड़ वस्तु (कला)। जो पशु (जीव) शरीर और इंद्रियों को

---

१. जे. एफ़ फ़्लीट ने रायल एशियाटिक सोसायटी के सन् १९०७ ई० के जर्नल (पृ० ४२१ की पाद टिप्पणी) में लिखा है कि लकुल 'खट्वांग' नामक शिव के शस्त्र का पर्याय होगा। 'खट्वांग' खड़िया के पाये के आकार का शस्त्र होता था जो बहुत कुछ गदा के समान ही समझा जाना चाहिए। यह लक्ष्य करने की बात है कि दक्षिण के पल्लव राजा लोग अपनी पताकाओं पर खट्वांग का चिह्न व्यवहार किया करते थे। फ़्लीट ने कहा है कि यदि लकुल और खट्वांग एक ही हों तो इन पल्लवों को भी लकुल-संप्रदाय का अनुयायी समझना चाहिए

२. कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्ध होइ कहँ गोरख कहा॥
मुंदरा स्रवन कंठ जपमाला। कर उपदान कांध बघछाला॥
—पदुमावती, पृ० २३८

३. हिंदी पाठक निम्नलिखित प्रबंध पढ़ सकते हैं :
(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० २५६-७ में पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा की टिप्पणी।
(२) विश्वभारती पत्रिका (खंड १, पृ० २४२-२४६) में पं० बलदेव उपाध्याय का लेख

धारण किये रहता है वह 'सांजन' कहलाता है और जो इनसे मुक्त हो गया होता है वह निरंजन। (३) चित्तद्वार से आत्मा और ईश्वर के संयोग को योग कहते हैं और (४) बाह्य आचारों को विधि। विधि दो प्रकार की होती है, व्रत और द्वार। भस्मस्नान, भस्मशयन, उपहार, जप, प्रदक्षिणा आदि व्रत हैं। इन लोगों की विधियों में नाचना, गाना, अट्टहास करना, लीला स्वांग करना, अनर्गल बकना, लोकनिंदित कार्य करना, उच्छिष्टभक्षण आदि का भी उल्लेख है। (५) दुःखान्त दुःख से परनिवृत्ति या मोक्ष को कहते हैं, जो योग और विधि द्वारा प्राप्त होता है। सर्वदर्शन संग्रह में इनके मत की विस्तृत चर्चा है। वहाँ बताया गया है कि ये लोग वैष्णवों की बताई हुई मुक्ति को सर्वदुःख से निवृत्ति नहीं मानते क्योंकि वैष्णव लोगों का विश्वास है कि आत्मा मुक्त होने पर भी विष्णु का सेवक बना रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसको पारतंत्र्य दुःख से निवृत्ति नहीं हुई। पर इनके मत से मुक्त होने पर जीव परमेश्वर के गुण से युक्त होकर उन्हीं के समान हो जाता है।[१]

(५) योगमार्गीय शाखा

गोरक्षनाथ के प्रवर्तित छः मार्ग बताए जाते हैं। इनमें जिन पंथों का पुराना परिचय प्राप्त है, वे मुख्यतः योगमार्गीय हैं। उनमें कई प्रकार की पुरानी साधनाओं के भग्नावशेष अब भी पाए जा सकते हैं। इनमें वाममार्गी, शाक्त, बौद्ध और संभवत: वैष्णवयोगपरक संप्रदाय अंतर्भुक्त हुए हैं। कुछ इनमें ऐसे हैं, जिनका कोई पुराना संबंध नहीं खोजा जा सका। परन्तु अधिकांश ऐसे हैं जिनका पुराना संबध आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। अब यह बात अविदित नहीं रही कि नवीं शताब्दी के पहले लगभग सभी संप्रदायों में योगमार्ग और तांत्रिक क्रियाओं का प्रचार हो गया था। क्या वैष्णव और क्या शैव, सभी में मंत्र, मुद्रा, योग, चक्र आदि की उपासना प्रचलित हो गई। शैव और वैष्णव दोनों ही संप्रदायों में आगमों और संहिताओं की प्रामाण्यता स्वीकृत हुई। आगम तीन प्रकार के हैं, वैष्णवागम या संहिताएं, शैवागम और शाक्तआगम या तंत्र। हमें पूर्ववर्ती अध्यायों में शैव और शाक्त आगमों का परिचय थोड़ा बहुत मिल चुका है। इस स्थान पर प्रसंग प्राप्त वैष्णव-संहिताओं की संक्षिप्त चर्चा कर लेने से आगे कही जाने वाली बात कुछ अधिक स्पष्ट होगी।

वैष्णवागम दो प्रकार के हैं: पांचरात्र संहिताएं और वैखानस सूत्र। दक्षिण में अब भी ऐसे बहुत से मंदिर हैं जहाँ वैखानस संहिताओं का व्यवहार होता है; परन्तु प्राचीन काल में और अधिक होता था। कहते हैं, रामानुजाचार्य के हस्तक्षेप से वैखानस संहिताओं का व्यवहार उठ गया और उनके स्थान पर पांचरात्र संहिताओं का प्रचार बढ़ा। तिरुपति के वेंकटेश्वर मंदिर तथा कांजीवरम के कई मंदिरों में अब भी वैखानस संहिताएं व्यवहृत होती हैं। पांचरात्र संहिताओं और वैखानस संहिताओं की

---

१. स०द०सं०: पृ० १६१

व्यवहार विधि में अन्तर है। अप्पयदीक्षित का कहना है कि पांचरात्र मत अवैदिक है और वैखानस मत वैदिक। सो, पांचरात्र मत का अभ्युत्थान इस युग की प्रधान विशेषता है। श्रेडर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता में कहा है कि यद्यपि बहुत सी संहिताएं बाद में बनी हैं परन्तु इनमें बारह प्राचीन संहिताएं निश्चित रूप से नवीं शताब्दी के पहले बन चुकी थीं और कुछ का अस्तित्व तो सन् ईसवी के पूर्व भी था।

इन संहिताओं में शैव आगमों की भाँति ही चार विषयों का प्रतिपादन है:— (१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जीव तथा जगत् के पारस्परिक संबंधों का निरूपण, (२) योग अर्थात् मोक्ष के साधनीभूत योग क्रियाओं का वर्णन, (३) क्रिया अर्थात् देवालय के निर्माण, पूजन, मूर्ति प्रतिष्ठा आदि विषयों के विधान और (४) चर्या अर्थात् नित्य और नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियों तथा यंत्रों की पूजापद्धति और पर्वविशेष के उत्सवादि[1]। इनमें चर्या का वर्णन ही बहुत अधिक हुआ करता है। बाकी में क्रिया, ज्ञान और योग की चर्चा हुआ करती है बहुत कम संहिताओं में चारों पादों पर ध्यान दिया गया। पाद्मतंत्र एक ऐसी संहिता है जिसमें सभी पाद भलीभाँति आलोचित हैं। पर इसमें भी योग के लिये ग्यारह पृष्ठ, ज्ञान के लिये पैंतालीस, क्रिया के लिये दो सौ पन्द्रह और चर्या के लिये ३७६ पृष्ठ हैं[2]। इसी से संहिताओं का प्रधान वक्तव्य विषय समझा जा सकता है। वस्तुतः ये प्रधान विषय क्रिया और चर्या ही हैं। इसीलिये संहिताओं को वैष्णवों का कल्पसूत्र कहा जाता है। शास्त्रीय विभाग को छोड़ दिया जाय तो इन में मंत्र, यंत्र, मायायोग, योग, मन्दिर निर्माण, प्रतिष्ठान विधि, संस्कार (आह्निक), वर्णाश्रम धर्म और उत्सव, इन्हीं दस विषयों का विस्तार अधिक है[3]। यह विषय सूची ही स्पष्ट कर देती है कि संहिताओं में तान्त्रिक पद्धति और योग की प्रधानता है। प्रकृत प्रसंग यह है कि हमारे आलोच्य काल में वैष्णव-संप्रदाय में योगक्रिया का प्रवेश हो गया था। और इन योग और तंत्रमूलक शास्त्रों को अवैदिक भी बताया जाने लगा था। इसी प्रकार बौद्ध, जैन, आदि मार्गों में भी योग क्रिया का प्रवेश हुआ था। इन में निश्चय ही स्तर-भेद वर्तमान था। कुछ शाखाएं ऐसी थीं जो संप्रदाय के वैदिकता-प्रवण मार्ग से दूर विच्छिन्न हो गई थीं और योग क्रियाओं को अधिकाधिक अपनाने लगी थीं। गोरक्षनाथ के मार्ग में इन्हीं संप्रदायों का सम्मिलन हुआ था। आगे भिन्न भिन्न मार्गों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१. भर्तृहरि—गोरक्षनाथ के एक अन्य पंथ का नाम वैराग्य पंथ है। भरथरी या भर्तृहरि इस पंथ के प्रवर्तक हैं। भर्तृहरि कौन थे, इस विषय में पंडितों में नाना प्रकार के विचार हैं परन्तु पंथ का नाम वैराग पंथ देखकर अनुमान होता है कि वैराग्य शतक नामक काव्य के लेखक भर्तृहरि ही इस पंथ के मूल प्रवर्तक होंगे। दो बातें संभव हैं—

---

१. भारतीय दर्शनः पृ० ४९३
२. श्रेडरः इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र ऐन्ड अहिर्बुध्न्य संहिता, पृ० २२
३. वहीः पृ० २६

(१) या तो भर्तृहरि ने स्वयं कोई पंथ चलाया हो और उसका नाम वैराग्य मार्ग दिया हो या (२) बाद में किसी अन्य योगमार्ग ने वै रा ग्य श त क में पाए जाने वाले वैराग्य शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ लिया हो। वै रा ग्य श त क के लेखक भर्तृहरि ने दो और शतक लिखे हैं, शृं गा र श त क और नी ति श त क। इन तीनों शतकों को पढ़ने से भर्तृहरि की जिन्दादिली और अनुभवीपन खूब प्रकट होते हैं। चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है कि भर्तृहरि नामक कोई राजा था जो सात बार बौद्ध संन्यासी बना और सात बार गृहस्थाश्रम में लौट आया। वैराग्य और शृंगार शतकों में भर्तृहरि के इस प्रकार के संशयित भावावेगों का प्रमाण मिलता है। संभवतः शतकों के कर्त्ता भर्तृहरि इत्सिंग के भर्तृहरि ही हैं। उनका समय सप्तम शताब्दी के पूर्वभाग में ठहरता है। कहानी प्रसिद्ध है कि अपनी किसी रानी के अनुचित आचरण के कारण वे विरक्त हुए थे। वै रा ग्य श त क के प्रथम श्लोक से इस कहानी का सामंजस्य मिला लिया जा सकता है। परन्तु इसी भर्तृहरि से गोरक्षनाथ के उस शिष्य भर्तृहरि को जो दसवीं शताब्दी के अन्त में हुए होंगे अभिन्न समझना ठीक नहीं है। यदि वै रा ग्य श त क के कर्त्ता भर्तृहरि गोरक्षनाथ के शिष्य थे तो क्या कारण है कि सारे शतक में गोरक्षनाथ का नाम भी नहीं आया है? यही नहीं, गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित हठयोग से वै रा ग्य श त क के कर्ता परिचित नहीं जान पड़ते। मेरा इस विषय में यह विचार है कि भर्तृहरि दो हुए हैं, एक तो वै रा ग्य श त क वाले और दूसरे उज्जैन के राजा जो अन्त में जाकर गोरक्षनाथ के शिष्य हुए थे। भर्तृहरि का वैराग्य-मत गोरक्ष द्वारा अनुमोदित हुआ और बाद में परवर्ती भर्तृहरि के नाम से चल पड़ा। इस मत को भी गोरक्षद्वारा 'अपना' मत माना जाना इसी लिये हुआ होगा कि कपिलायनी शाखा तथा नीम—नाथी पारसनाथी—शाखा की भाँति इन में योगक्रियाओं का बहुल प्रचार होगा। द्वितीय भर्तृहरि के विषय में आगे कुछ विचार किया जा रहा है। यह विचार मुख्य रूप से दन्तकथाओं पर आश्रित है। इसके विषय में नाना प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं। मुख्य कथा यह है कि ये किसी मृगीदल-विहारी मृग को मार कर घर लौट रहे थे। तब मृगियों ने नाना प्रकार के शाप देना शुरू किया और वे नानाभाव से विलाप करने लगीं, दयार्द्र राजा निरुपाय होकर सोचने लगा कि किसी प्रकार यह मृग जी जाता तो अच्छा होता। संयोगवश गुरु गोरक्षनाथ वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने इस शर्त पर कि मृग के जी जाने पर राजा उनका चेला हो जायगा, मृग को जिला दिया। राजा चेला हो गया। कहते हैं, गोपीचंद की माता मयनामती (मैनावती) इनकी बहन थीं।

हमारे पास 'विधना क्या कर्तार' का बनाया हुआ भ र थ री च रि त्र है जो दूधनाथ प्रेस, हवड़ा से छपा है। इस पुस्तक के अनुसार भरथरी या भर्तृहरि उज्जैन के राजा इन्द्रसेन के पौत्र और चन्द्रसेन के पुत्र थे। वैराग्य ग्रहण करने के पूर्व राजा सिंहलदेश की राजकुमारी सामदेई से विवाह करके वहीं रहता था। वहीं मृग का शिकार करते समय उसकी गुरुगोरक्षनाथ से भेंट हुई थी। हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि योगियों का सिंहलदेश वस्तुतः हिमालय का पाददेश है, आधुनिक सीलोन नहीं।

एक और कहानी में बताया जाता है कि भर्तृहरि अपनी पतिव्रता रानी पिंगला की मृत्यु के बाद गोरखनाथ के प्रभाव में आकर विरक्त हुए और राज्य अपने भाई विक्रमादित्य को दे गए। उज्जैन में एक विक्रमादित्य (चंद्रगुप्त द्वितीय) नामक राजा सन् १०७६ से ११२६ तक राज्य करता रहा[1]। इसप्रकार भर्तृहरि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग के ठहरे। एक दूसरी कहानी में रानी पिंगला को राजा भोज की रानी बताया गया है। राजा भोज का राज्यकाल १०१८ से १०६० ई० बताया गया है[2]। एक दूसरे सूत्र से भी भर्तृहरि मयनामती और गोपीचंद्र का संबंध स्थापित किया जा सका है। पालवंश के राजा महीपाल के राज्यमें ही, कहते हैं, रमणवज्र नामक वज्रयानी सिद्ध ने मत्स्येंद्रनाथ से दीक्षा लेकर शैव मार्ग स्वीकार किया था। यही गोरखनाथ हैं। पालों और प्रतीहारों (उज्जैन के) का झगड़ा चल रहा था। कहा जाता है कि गोविंद चंद्र महीपाल का समसामयिक राजा था और प्रतीहारों के साथ उसका संबंध होना विचित्र नहीं है[3]।

२. गोपीचंद और मयनावती—गोपीचंद और मयनामती (मयनावती) की कहानी सारे भारतवर्ष में पाई जाती है। गोपीचंद बंगाल के राजा मानिकचंद के पुत्र थे। मानिकचंद का संबंध पालवंश से बताया जाता है जो सन् १०९५ ई० तक बंगाल में शासनारूढ़ था। इसके बाद ये लोग पूर्व की ओर हटने को बाध्य हुए थे। कुछ पंडितों ने इस पर से अनुमान किया है कि ये ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में हुए होंगे। गोपीचंद्र का ही दूसरा नाम गोविन्दचंद्र है। हमने मत्स्येंद्रनाथ का समय निर्धारित करने के प्रसंग में तिरुमलय में प्राप्त शैललिपि पर से इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास होना पहले भी अनुमान किया है। गोपीचंद्र मयनामती के पुत्र थे जो किसी हाड़ी सिद्ध की शिष्या बताई जाती हैं। ये हाड़ीसिद्ध जालंधरनाथ ही थे, ऐसी प्रसिद्धि बंगाल में पाई जाती है। सिंध में गोपीचंद पीर पटाव नाम से मशहूर हैं। पीर पटाव की मृत्यु सन् १२०९ ई० में हुई थी। तुफ तुल किरान में पीरपटाव की कहानी दी हुई है। यह कहानी गोपीचंद को १२ वीं शताब्दी में पहुंचाती है। परन्तु पीर पटाव गोपीचंद ही थे या नहीं, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि गोपीचंद बंगाल के राजा थे। इतिहास में यह शायद अद्वितीय घटना है जब माता ने पुत्र को स्वयं वैराग्य ग्रहण करने को उत्साहित किया हो। गोपीचंद की कहानियां इस प्रकार हैं—

(१) गोपीचंद बंगाल के राजा थे, भर्तृहरि की बहन मैनावती इनकी माता थी। गोरखनाथ ने जिस समय भर्तृहरि को ज्ञानोपदेश दिया था, उसी समय मैनावती ने भी गोरखनाथ से दीक्षा ली थी। वह बंगाले के राजे से व्याही गई थी। इसके एक पुत्र गोपीचंद और एक कन्या चन्द्रावली ये दो सन्तानें थीं। चंद्रावली का विवाह

१. ब्रिग्स: पृ० १४४
२. ट्रा० का० सें० प्रो० : जिल्द २, पृ० ४०१ और ब्रिग्स पृ० २४४
३. ब्रिग्स: म. मं. पं. हरप्रसाद शास्त्री के आधार पर

सिंहलद्वीप के राजा उग्रसेन से हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद जब गोपीचंद बंगाले का राजा हुआ तो उनके सुन्दर कमनीय रूप को देखकर मैनावती के मन में आया कि विषयसुख में फँसने पर इसका यह शरीर नष्ट हो जायगा। इसीलिये उसने पुत्र को उपदेश दिया कि 'बेटा, जो शाश्वत-सुख चाहता है तो जालंधरनाथ का शिष्य होकर योगी हो जा।' जालंधरनाथ संयोगवश वहाँ आए हुए थे। गोपीचंद राजपाट छोड़ योगी हो कदलीवन में चले गए। पीछे से अपनी बहिन चंद्रावली के अत्यन्त अनुरोध पर उसे भी योगी बनाया (सु० च० पृ० २५१)।

(२) दुर्लभचंद्र के गो वि न्द च न्द्र गी त का कथा-सार—

जालंधरिपाद या हाड़िपा शिव के शापवश पाटीका-भुवन (या मेहारकुल) में राजा गोविन्दचंद्र और उनकी सिद्धा माता मयनामती के घर नीच कर्म किया करते थे। मयनामती ने अपने पुत्र को उपदेश दिया कि इन हाड़ी का शिष्य बनकर महाज्ञान प्राप्त करो और अमर हो जाओ। राजा ने पहले तो नीच जाति से दीक्षा लेना स्वीकार नहीं किया। राजा ने माता से पूछा कि तुमको अगर सिद्धि प्राप्त है तो पिता जी क्यों मर गए। रानी ने बताया कि किस प्रकार पति को बचाने के लिए लौह-कपाट-बद्ध गृह में बंद करके पहरा देती रहीं, किस प्रकार यमदूत बार बार आकर रानी की सिद्धि के भय से लौट गए, फिर किस प्रकार एक सप्ताह बाद राजा के अत्यन्त आग्रह से वे भोजन बनाने के लिये वहाँ से हटीं और मौका देखकर यमदूत वहाँ से पति को ले गए। फिर रानी भ्रमरी बन कर यमपुर गईं। यम ने कहा कि अनजली मिट्टी ले आओ तो तुम्हारे पति को जिला दूँ। पर वह गंगा के गर्भ में है जिससे सब जीव बचे हुए हैं। रानी ने उस मिट्टी को लेना उचित नहीं समझा और पति नहीं बच सके। गोरखनाथ ने रानी को जलते जतुगृह में प्रवेश करने को कहा। वहाँ से वह साफ निकलीं। फिर तो राजा माता की सिद्धि देखकर दीक्षा लेने को राजी हो गया। हाड़िपा या जालन्धरिपाद ने शिष्य करने में आपत्ति दिखाई। पर राजा ने छोड़ा नहीं। बाद में नगर में से भिक्षा माँग लेने की शर्त पर राजी हुए। राजा सारे नगर मारा फिरा पर जालन्धरिपाद के माया-प्रभाव से उसे किसी ने भिक्षा नहीं दी—अपनी प्रियतमा रानियों उदुना और पुदुना ने भी नहीं। अंत में माता मयनामती ने ही भिक्षा दी, पर गुरु ने उसे भी मायाबल से उड़ा दिया। हैरान राजा गोविंदचन्द्र गुरु के पास खाली हाथ लौटे। गुरु ने कहा, दूसरे देश से भिक्षा ले आओ। शिष्य गुरु के साथ ही देशान्तर जाने को राजी हुआ। झोली ले भभूत रमा करके गुरु के साथ राज-शिष्य निकल पड़ा। मस्ताने गुरु ने दक्षिण देश की किसी वीरांगना के घर राजा को कुछ कौड़ियों पर बन्धक रखा। उसने राजा से प्रेम करना चाहा और प्रत्याख्यात होकर कष्ट देने लगी। इधर उदुना पुदुना रानियों ने अपनी वियोग-कथा को तोते-मैनों के पंखों में बाँध कर उड़ाया। वे सर्वत्र उड़ते हुए उस स्थान पर भी पहुँचे जहाँ राजा गोविंद चंद्र बंदी थे। उसका समाचार तोते मैनों ने रानियों को दिया, रानियों ने सास मयनामती को, मयनामती ने गुरु जालन्धरिपाद को। इधर उस हीरा नामक वीरांगना ने राजा

को भेड़ा बना दिया। गुरु वहां पहुँचे। कौड़ियां लौटा कर उन्होंने बंधक मांगा। हीरा ने कहा कि वह आदमी तो मर गया। पर गुरु ने ध्यान बल से सब समझ लिया। हुंकार छोड़ते ही भेड़े का बंधन टूटा और राजा भी मनुष्य हुए। इस बार शिष्य को लेकर गुरु यमलोक में गए। वहां पर राजा ने अपने दुष्कर्मों का हिसाब देखा तो योगी होने का पक्का निश्चय कर लिया। गुरु ने अब राजा को महाज्ञान दिया। राजा महाज्ञान पाकर घर लौटे और रानियों को योगविभूति दिखाने लगे। हाड़िपा ने जब यह जाना तो महाज्ञान हर लिया। अब राजा कोई भी चमत्कार नहीं दिखा सके। रानियों ने हँसकर कहा बड़े भारी गुरु हैं तुम्हारे। जादू और टोना भर जानता है वह आदमी। राजा ने विश्वास किया और दूसरे ही दिन हाड़िपा को पकड़वा मँगाया। उस समय वे ध्यानस्थ थे। उसी अवस्था में राजा ने उन्हें भूमि में गड़वा दिया।

इधर हाड़िपा के शिष्य कानुपा ने गोरखनाथ के मुख से जो अपने गुरु का संवाद पाया तो बालक योगी का रूप धारण करके गोविन्दचन्द्र की राजधानी में पहुँचे। योगी का प्रवेश वहां निषिद्ध था। कोतवाल ने इस शिशु योगी को पकड़कर रानी उदुना के सामने पेश किया। बालक योगी ने बताया कि मैं गुरुहीन होकर भटक रहा हूं। मैं योग भला क्या जानूं और रानी के बंधन से मुक्त हुए। तब कानुपा राजा के पास गए और एक हुंकार छोड़ा। सोलहसौ हाड़िपा के शिष्य उपस्थित हुए। राजा ने योगियों को भोजन कराना शुरू किया। भला योगियों का पेट कैसे भरता। अंत में राजा ने उन्हें सिद्ध समझा और असली परिचय पाकर भीत हुआ। राजा को हाड़िपा के क्रोध से रक्षा करने के लिए कानुपा ने तीन पुतलियां बनाईं। खोद कर हाड़िपा को जब निकाला गया तो उन्होंने क्रोधभरी दृष्टि से तीन बार गोविंदचंद्र को देखना चाहा तीनों बार कानुपा ने पुतलियां दिखाईं जो जलकर भस्म हो गईं। फिर गुरु कुछ शान्त हुए तब राजा गोविंदचंद्र ने क्षमा मांगी। अबकी बार वे सच्चे योगी हुए। कान में शंख का कुंडल और शरीर में भस्म रमा कर देशान्तर के लिए चल पड़े। रानियों ने जो विलाप शुरू किया तो उन्हें प्रस्तरमूर्ति में रूपान्तरित कर दिया। अबकी बार वे सचमुच अमर हुए और माता मयनामती प्रसन्न हुईं।

मयनामती गान का सारांश—

एक बार गोरखनाथ राजा तिलकचन्द्र के घर गए। वहीं बालिका शिशुमती को महाज्ञान का उपदेश दिया। यही रानी मयनामती हुई। इसका विवाह राजा मानिकचंद से हुआ। रानी ने मानिकचंद को महाज्ञान का उपदेश करना चाहा पर वे स्त्री को गुरु बनाने को राजी नहीं हुए। राजा ने अन्त में मयनामती को घर से निकाल दिया। वे 'फेरुसा' नगर में चली गईं। मानिकचंद ने चार पटरानियों और १८० सामान्य भार्याओं के साथ विहार करने में काल बिताया। मृत्यु के समय उन्हें होश आया और रानी मयनामती को बुलवाया। जब तक रानी-राजा के आदेश से हीरा-

माणिक्य खचित सुवर्ण शृंगार में गंगा का जल ले आने को गई तब तक यमदूत राजा का प्राण ले भागे रानी ने यमदूतों से बहुत लड़ाई की, पर पति को नहीं बचा सकी। उस समय उनके गर्भ में गोविन्दचंद्र या गोपीचंद्र थे। पैदा होकर यही लड़का राजा हुआ। पर वास्तविक शक्ति रानी के ही हाथ में रही। गोविन्दचंद्र ने बड़ा होकर सामार (वर्तमान ढाका में) के राजा की अदुना नामक कन्या से विवाह किया। द्वितीया कन्या पदुना दहेज में मिली।

भट्टशाली द्वारा संपादित म य ना म ती के गान में ऐसा आभास पाया जाता है कि दाक्षिणात्य राजा राजेन्द्र चोल ने अपनी एक कन्या गोविन्दचन्द्र को देकर संधि स्थापित की थी। रानी मयनामती ने देखा कि १८ वर्ष की उमर में यदि गोविन्दचन्द्र संन्यास नहीं लेता है तो उसकी उन्नीसवें वर्ष में मृत्यु निश्चित है। फलतः रानियों को रोती बिलपती छोड़ हाड़िपा गुरु जालंधरिपा से दीक्षा लेकर राजा १२ वर्ष के लिये प्रव्रजित हुए। रानी ने जब हाड़ि से दीक्षा लेने की बात कही तो राजा ने बहुत प्रतिवाद किया यहां तक कि हाड़ी के साथ रानी के गुप्त प्रेम और अपने पिता को बिष प्रयोग से मार डालने का अभियोग भी लगाया। पर रानी ने रोकर कहा कि हाड़ी और वे दोनों ही गोरखनाथ के शिष्य हैं। अस्तु राजा संन्यासी हुआ और दक्षिण देश की हीरा नामक वेश्या ने उससे प्रेम करना चाहा। प्रत्याख्यात होने पर उसने उसे नाना प्रकार के कष्ट दिए। एक दिन पानी भरते समय राजा को ज्ञात हुआ कि १२ वर्ष बीत गया और अपना जाँघ चीर कर रक्त से एक पत्र लिखकर कबूतर के पर में बांध कर उड़ा दिया। कबूतर ने उस खबर को यथास्थान पहुँचा दिया। तब गुरु हाड़ि ने आकर राजा का उद्धार किया। राजा दीर्घकाल बाद जब राजधानी लौटे तो अन्तःपुर गए। वहाँ रानी अदुना उन्हें पहचान न सकी। अपरिचित को अन्तःपुर में जाते देख कुत्ता ललकार दिया और हाथी से कुचलवा देने का आदेश किया। दोनों ने राजा को पहचान कर सिर झुका लिया। तब रानी ने उन्हें पहचाना और राजा सिंहासनासीन हुए। [दीनेशचंद्र सेन के बं ग भा षा ओ सा हि त्य (पृ० ५५-५७) में दी हुई कथा के आधार पर संकलित।]

(४) डा० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक में पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में संगृहीत कई हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'उदास गोपीचंद, गाथा, गोरखपद' नाम से एक अंश छापा है जो गोपीचंद और उनकी माता मयनावती (मैनावंती) के संवाद के रूप में है। माता ने पुत्र को योगी वेश में देखकर बहुत दुःख अनुभव किया इस पर पुत्र ने याद दिलाया कि तुम्हारे ही उपदेश से मैं ने यह वेश लिया है और जब मैं इस मार्ग में रम गया तो तुम पछताती हो। संवाद के बाह्य रूप से ही स्पष्ट रूप में मालूम होता है कि यह गोपीचंद का अपना लिखा हुआ नहीं है। उनके मत को व्यक्त करने के लिये किसी ने बाद में लिखा है। भाषा भी नई है। फिर भी इस संवाद में से गोपीचन्द के मत को समझने में सहायता तो मिल ही सकती है। संवाद में गोरखनाथ को गोपीचंद का गुरु बताया गया है।

म. म. पं० गोपीनाथ कविराज ने[1] गोपीचंद और जालंधरनाथ के संवाद रूप में कुछ संस्कृत वाक्य उद्धृत किए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ये वाक्य किसी पुरानी हिंदी कविता की संस्कृत छाया हैं। एक पद है, 'वमतौ स्थीयते तदा कन्दर्पो व्याप्नुते। वने स्थीयते तदा क्षुन् सन्तापयति।' संस्कृत वाक्य में कोई तुक नहीं मिलता परन्तु हिंदी में यदि इसे 'व्यापै—सन्तापै' मान लिया जाय तो तुक मिल जाता है। छन्द भी हिंदी वंध में ठीक उतरता है। सारा संवाद 'गोरखमछीन्द्र बोध' के अनुकरण पर लिखा हुआ परवर्ती है। संवाद के रूप में सिद्धों की बातचीत के रूप में पाई जाने वाली रचनाएँ संदेह मूलक हैं। उन पर से किसी सिद्धान्त पर पहुँचना सब समय ठीक नहीं है।

(६) रसेश्वर मत

हमने ऊपर देखा है कि हठयोग में प्राणायाम का विशेष महत्त्व है। परन्तु हठयोग के ग्रंथों में तीन चाञ्चल्य धर्मी तत्त्वों का उल्लेख है जिनमें से किसी एक को वश में लाने से अभीष्ट सिद्धि होती है। ये हैं (१) प्राण (२) मन और (३) बिंदु प्रथम दो के संयमन-विधि की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। तीसरे की एक अत्यन्त विचित्र और परम उपकारी परिणति हुई है, यहाँ उसीका उल्लेख किया जा रहा है। बिंदु का अर्थ शुक्र है। ऐसा जान पड़ता है कि इसके अधोगति को कालाग्नि कहते थे[2] ऊर्ध्वगति को 'कालाग्निरुद्र'[3]। नाना यौगिक क्रियाओं से बिंदु को ऊर्ध्वगामी करने का विधान है। ऊर्ध्व रेता के प्राण और मन अचंचल हो जाते हैं तथा कुण्डलिनी-शक्ति उद्बुद्ध होकर ऊर्ध्वगामिनी होती है। यह 'कालाग्नि-रुद्रीकरण' योग मार्ग की एक महत्त्व पूर्ण साधना थी। कालाग्नि रुद्र-नामक एक उपनिषद् भी है परन्तु इससे उपर्युक्त 'कालाग्नि रुद्र' का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। केवल इससे इतना ही जाना जाता है कि कालाग्नि रुद्र कोई देवता हैं; इनसे सनत्कुमार ने प्रश्न किया था कि भस्म धारण का तत्त्व क्या है? ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार बिन्दु के अधः पतन के देवता विषहर, नंदिनीवृत्ति के देवता काम और स्थिरीभाव के देवता निरजन हैं[4] उसी प्रकार ऊर्ध्वगमन के देवता कालाग्नि रुद्र हैं। संभवतः वज्रयानियों के कालाग्नि ही नाथ-सिद्धों के विषहर हैं। जो हो, बिन्दु के ऊर्ध्वगमन से अमरत्व प्राप्ति हठयोग की एक महत्त्व पूर्ण साधना है। इसी का एक रूप है स्त्री के रज को आकर्षण करके बिन्दु के साथ मिलाकर उसका ऊर्ध्वपातन। यह वज्रोलिका मुद्रा कही जाती है।

इसी साधना का भौतिक रूप में भी विकास हुआ है। पारा शिव का वीर्य है

१. स. भ. स्ट.: छठा भाग, १९२७

२. कृष्णपाद के दोहाकोष के चौदहवें दोहे में 'कालाग्नि' शब्द आता है। उसकी संस्कृत टीका (मेखला) में कहा है कि "कालाग्निश्च्युत्यवस्था", बौ. गा. दो. पृ० १२८।

३. ऊर्ध्व स्वभावो यः पिण्डे स स्यात् कालाग्निरुद्रकः—सि. सि. सं. ३। ५

४. अमरौघशासनः पृ० ८

और अभ्रक पार्वती का रजः [1]। इन दोनों के मिश्रण को यंत्र विशेष से ऊर्ध्व पातित करने से शरीर को अमर बनाने वाला रस तैयार होता है [2]।

किसी प्राचीन ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत कर के सर्वदर्शन संग्रह में बताया गया है कि चूंकि पारद (पारा) संसार सागर का पार कर देता है इसीलिए यह 'पारद' कहा जाता है। संदेह हो सकता है कि मुक्ति तो देह त्याग के बाद होती है, देह को अजर-अमर बना देने वाला रसायन कैसे मुक्ति दे सकता है? उत्तर में कहा गया है कि वस्तुतः यह शंका वही लोग करते हैं जो यह नहीं जानते कि पारद और अभ्रक कोई मामूली वस्तु नहीं है वे हर और गौरी के शरीर के रस हैं, इनके शुद्ध प्रयोग से मनुष्य शरीर त्याग किये बिना ही दिव्य देह पा कर मुक्त हो जाता है और समस्त मंत्रसमूह उसके दास बन जाते हैं [3] अभ्रक और पारद के मिलने से जो रस उत्पन्न होता है वह मृत्यु और दरिद्रता का नाश करता है। रसेश्वर सिद्धान्त में राजा सोमेश्वर, गोविन्द भगवत्पादाचार्य गोविंदनायक, चर्वटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक पुरुषों का इस रस-सिद्धि से जीवन्मुक्त सिद्ध होना बताया गया है।[4]

इस रसेश्वर मत का हठयोग से घनिष्ठ संबंध है। परमेश्वर (शिव) ने एक बार देवी से कहा था कि कर्मयोग से पिण्ड धारण किया जा सकता है। यह कर्मयोग दो प्रकार का होता है -(१) रस मूलक और (२) वायु या प्राण-मूलक। रस और वायु दोनों में ही यह विशेषता है कि मूर्छित होने पर वे व्याधिको दूर करते हैं, मृत होने पर जीवन देते हैं और बद्ध होने पर आकाश में उड़ने योग्य बना देते हैं।[5] रस पारद का नाम है, क्योंकि वह साक्षात् शिव के शरीर का रस है—मम देहरसो यस्मात् रसस्तेनायमुच्यते।

रसग्रंथों में इसके स्वेदन, मूर्छन, पातन, निरोधन, मारण आदि की विधियाँ विस्तार पूर्वक बताई गई हैं। आज भी भारतीय चिकित्सा शास्त्र में रस का प्रचुर प्रयोग होता है।

---

१. अभ्रकस्तवबीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मिलनं देवि मृत्युदारिद्र्यनाशनम्॥
स. द. सं. पृ. २२४

२. पारद की तीन दशा कही गई है—मूर्छित, मृत और बद्ध। ये ही प्राण की भी दशाएं हैं। रससिद्धों ने कहा है कि ये दोनों ही मूर्छित हो कर व्याधि हरते हैं, मृत होकर जिला देते हैं और बद्ध होकर अमर कर देते हैं—मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्। बद्धश्चामरतां नेति रसो वायुश्च भैरवि।'

३. ये चात्यक्तशरीरा हरगौरीसृष्टिजां तनुं प्राप्ताः।
मुक्तास्ते रससिद्धा मंत्रगणः किंकरो येषाम्॥ रसहृदय १।७

४. स०द०सं: पृ० २०४

५. कर्मयोगेण देवेशि प्राप्यते पिण्ड धारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधास्मृतः॥
मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि॥
स०द० सं०, पृ० २०४

अमर बना देने वाला रसायन तो शायद किसी को नहीं मालूम पर पारद की अमोघ शक्ति का आविष्कार करके इन सिद्धों ने भारतीय चिकित्सा शास्त्र को अपूर्व रूप में समृद्ध किया है। रसायन-चिकित्सा भारतीय आयुर्वेद की अपनी विशेषता है और संसार की चिकित्सा-पद्धति में बेजोड़ वस्तु है। सुप्रसिद्ध विद्वान और चिकित्सक महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन ने लिखा है: आयुर्वेद के रसायन तंत्र के आविष्कारक हैं रसवैद्य या सिद्ध सम्प्रदाय। "ये लोग कई सौ वर्ष पहले पारदादि धातु घटित चिकित्सा का विशेष प्रवर्तन किया था। आर्षकाल में लोहा और सिलाजीत प्रभृति धातुओं का थोड़ा बहुत व्यवहार था जरूर, परन्तु पारदादि का आभ्यन्तर प्रयोग प्रायः नहीं था। रसवैद्य-सम्प्रदाय ने पहले पहल पारद के सर्व रोग-निवारक गुण का आविष्कार किया। इस सम्प्रदाय का गौरव एक दिन इतने ऊँचे उठा था कि एकमात्र पारद से चतुर्वर्ग फल लाभ होता है, इस प्रकार का एक दार्शनिक मत उद्भूत हुआ था जो 'रसेश्वर दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। माधवाचार्य ने स र्व द र्श न सं ग्र ह में इसका उल्लेख किया है। आजकल प्रचलित आयुर्वेद में इस मंत्र का इतना जबर्दस्त प्रभाव है कि आज के आयुर्वेद शास्त्र को ऋषियुग का आयुर्वेद नहीं कह सकते। ...कहा जाता है कि इस रस सम्प्रदाय का मत आदिनाथ महादेव का उपदिष्ट है और आदिनाथ, चन्द्रसेन, नित्यानन्द, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, माण्डव्य आदि योगियों ने योगबल से इसकी स्थापना की थी।[1] "

अनेक नाथ पंथी सिद्धों के लिखे हुए रसग्रंथ आज भी वैद्यों में प्रचलित हैं। सिद्धनागार्जुन के ना गा र्जु न तं त्र और र स र त्ना क र (अमुद्रित), नित्यनाथ का र स र त्ना क र (र स खं ड और र से न्द्र खं ड कलकत्ते से तथा इन दोनों सहित र सा य न खं ड अर्थात् संपूर्ण ग्रंथ आयुर्वेद ग्रंथमाला, बंबई से मुद्रित) और र स र त्न मा ला (अमुद्रित), शालिनाथ की र स मं ज री, काकचण्डेश्वर का कहा जाने वाला का क च ण्डे श्व री म त तं त्र और मंथान भैरव का र स र त्न आयुर्वेद शास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माने जाते हैं। चर्पटनाथ के रससिद्ध होने की बात पहले ही कही जा चुकी है।

गोरक्षनाथ भी रसायनविद्या के आविष्कारक माने जाते हैं परन्तु उनके नाम से प्रचलित कोई इस विषय का ग्रंथ नहीं मिला। प्रा ण सं क ली[2] नामक जो छोटी सी पुस्तिका गोरखबानी में छपी है उसमें केवल शरीर संस्थान का वर्णन है। प्राण-संकली शब्द का अर्थ है प्राणों का कवच। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि इसमें शरीर रक्षा विषयक सिद्धियों का वर्णन होगा। श्री सन्त संपूरन सिंह जी ने तरनतारन से एक प्रा ण सं ग ली ग्रंथ प्रकाशित किया है।

यह गुरू नानकदेव का कहा गया है परन्तु पंजाबी के सुप्रसिद्ध विद्वान् कवि चूड़ामणि

---

१. आ यु र्वे द प रि च य, (विश्व विद्या संग्रह, शान्तिनिकेतन, १३५० बंगाब्द) पृ० १२-१३

२. मच्छंदरनाथ के शिष्य चौरंगीनाथ-लिखित बताई जाने वाली एक और प्रा ण सं क ली नामक पुस्तक पट्टी के जैन मन्दिर में सुरक्षित है।

भाई सन्तोष सिंह जी ने इस बात को अस्वीकार किया है। उन्होंने श्री गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ में लिखा है कि प्राण संगली की सबसे पुरानी प्रति पुरातन जनम साखी में मिलती है जो षष्ठ गुरु के समय की लिखी हुई मालूम पड़ती है। (इसमें प्राण संगली इस प्रकार शुरू होती है :—

उनमन सुन्न सुन्न सम कहीए।
उनमन हरख सोग नहीं रहीए।

इसमें २२ पौड़ियाँ (छंद विशेष) हैं। परन्तु जो लिखी हुई प्रतियाँ देखने में मिली हैं उनमें १३ अध्याय हैं। यथा—(१)सुन्न महल की कथा (२) परम तत्व (३) प्राण पिण्ड (४) हाटका (५) नौ नाड़ी (६) पंच तत्व (७) योग मार्ग (८) काल बाच निर्योग (९) आसा-योग-बैराग (१०) ओनम सुन्न (११) निर्योग भक्ति (१२) गुरु स्तुति (१३) सच खंड की युक्ति। (१४) श्री संत संपूर्ण सिंह जी की टीका सहित हिन्दी में छपी हुई प्राण संगली के इक्कीस अध्याय हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) ओऽम्‌कार मत का मूल, (२) नौ नाड़ी, (३) पञ्च तत्व (४) सुन्न महल (५) परम तत्व (६) अ प्रवान पिण्ड, भा. सिद्ध गोष्ट (७) योग मार्ग (८) रंग माला-योग-निधि (९) हाटका (१०) निर्वाण (११) उदास-धर्म योग वैराग (१२) योग वैराग-सचखंड की जुगत (१३) गोष्ट रामानन्द (१४) शून और उत्पत्ति (१५) सतगुरु स्तुति (१६) काल-बाच-निर्योग-भक्ति (१७) कला-बतीबानी (१८) निर्योग भक्ति (१९) छोटी रत्नमाला (२०) बड़ी रत्नमाला (२१) जीव की नसीहत के योग्य उपदेश।

प्राण संगली श्री गुरु नानक जी ने शिवनाम के निमित्त दी थी, ऐसा कहा जाता है। क्या यह वही है? कहना कठिन है, क्योंकि उसे गुरु जी ने जल में विसर्जन कर दिया था। संभव है पीछे इसका उद्धार किया गया हो लेकिन श्री गुरु ग्रंथ साहिब में इसका समावेश न होना यही प्रमाणित करता है कि यह ग्रंथ गुरुबाणी का दरजा नहीं रखता। बारीकी के साथ देखने से और दोनों की तर्ज का मिलान करने से यह अन्तर सुस्पष्ट हो जाता है; प्राण संगली उदासी संतों की रचनाओं के अधिक नजदीक पड़ती है। ग्रंथ साहिब में उसका समावेश न होने से ही यह सिद्ध होता है कि गुरु अर्जुन देव जी ने इसे नानक जी की वाणी नहीं समझा, नहीं तो उनके द्वारा इसकी उपेक्षा असंभव थी। जान पड़ता है प्रचलित घटिया बानियों से गुरुबानी का प्रभेद सुस्पष्ट रखने के उद्देश्य से ही अर्जुन देव जी ग्रंथ साहिब के संकलन कार्य में प्रवृत्त हुए संभव है प्राण संगली को देख कर ही उन्हें ऐसा करने का विचार सूझा हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राण संगली योग और रसायन का ग्रंथ है। इसमें सिद्ध चरपटनाथ और गुरुनानक से बातचीत के रूप में विविध रसायनों का उल्लेख है। बहुत संभव है गुरु गोरखनाथ की प्राण संगली कोई बड़ी पुस्तक थी, यह ग्रंथ उसी के अनुकरण पर लिखा गया हो।

इस प्रकार गोरख संप्रदाय में रसेश्वर मत भी अन्तर्भुक्त हुआ है। संभवतः सिद्धों का यह सबसे महत्वपूर्ण दान है।

---

१. गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ, । पृ० ४०४३ की पादटीका का हिंदी रूपान्तर

(७) वैष्णव योग

गोरखनाथ के सम्प्रदायों में कपिलानी या कपिलायनशाखा वैष्णव योग की पुरानी परम्परा पर आश्रित होने से वैष्णव योग कही जा सकती है। कपिलमुनि विष्णु के अवतार थे। दसवीं शताब्दी में कपिलायनयोग किस रूप में वर्त्तमान था, इसका आभास भागवत पुराण से मिल सकता है। कपिल भगवान ने अपनी माता देवहूति को इस योग का उपदेश दिया था। भागवत के तृतीयस्कंध के छब्बीसवें अध्याय से लेकर कई अध्यायों तक इसका विस्तृत वर्णन है। छब्बीसवें अध्याय में सांख्य शास्त्र के तत्ववाद का वर्णन है, फिर सत्ताईसवें अध्याय से योग का वर्णन है। संक्षेप में भागवत में उपदिष्ट मत का सारांश यह है:

"परम पुरुष परमात्मा निर्गुण है; सुतरां अकर्त्ता और अविकार है। सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होने पर भी वास्तव में जल का धर्म जो चंचलता व हिलना है, उसमें लिप्त नहीं होता। वैसे ही यह पुरुष देह में स्थित होने पर भी प्रकृति (माया) के गुणों से उत्पन्न जो सुख दुःख आदि हैं उनमें लिप्त नहीं होता।

हे मातः! वही एक निर्गुण आत्मा प्रकृति आदि चौबीस गुणसमूह (सतोगुण युक्त मन आदि, रजोगुण युक्त इन्द्रियादि, तमोगुण युक्त पंचभूतादि, द्वारा सज्जित होकर अहंकार मय होता है। उसी अहंकार में मूढ़ होकर अपने को ही प्रकृति कार्यों का कर्त्ता मानता है। अतएव अवारा होकर प्रासङ्गिक कर्म के दोष से सत् (देव) असत् (तिर्यक्) मिश्र (मनुष्य) योनियों में उत्पन्न होकर संसार पदवी को प्राप्त होता है। अर्थात् जन्म मरण के दुःख से पीड़ित होता है (२७. १-३)।

यम आदि योग मार्गों का अभ्यास करता हुआ श्रद्धापूर्वक मुझमें सत्य भक्ति भाव करे, मेरी कथाओं का श्रवण करे, सब प्राणियों को एक दृष्टि से देखे किसी से बैर न करे असत्संग न करे, ब्रह्मचर्य और मौन (प्रयोजन भर बोलना) रहे, धर्म करे और उसे ईश्वरार्पण करदे।

जो मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहे, उतना ही भोजन करे जिससे शरीर स्वस्थ रहे, मुनिव्रत का अवलम्बन करे, एकान्त में रहे, शांत स्वभाव धारण करे, सबसे मित्रभाव रक्खे, दया और धैर्य धारण किये रहे। प्रकृति और पुरुषका तत्त्व दिखाने वाले ज्ञान का ग्रहण कर इस देह अथवा इसके संगी स्त्री पुत्रादि 'मैं मैं हूँ—मेरा है' इस असत् आग्रह को त्याग दे। बुद्धि के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन अवस्थाओं को निवृत्त करके तुरीय अवस्था में स्थित हो। सबमें अपने को, और अपने में सब को देखे, तब वह आत्मदर्शी पुरुष आत्मा से परमात्मा को प्राप्त होता है। जैसे चक्षुस्थित (चक्षुके अधिष्ठाता) सूर्य (वा तेज) द्वारा सूर्य का दर्शन होता है (अर्थात् चक्षु स्थित सूर्य द्वारा आकाश स्थित सूर्य की प्राप्ति होती है वैसे ही पूर्वोक्त नियम के पालन से अहंकार युक्त आत्माद्वारा शुद्ध आत्मा—अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होती है) इस अवस्था को प्राप्त पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है। वह ब्रह्म निरूपाधि अर्थात्

चिह्न रहित है तथा असत् अहंकार में सतरूप से भासित होता है। वह ब्रह्म सत् अर्थात् प्रधान का अधिष्ठान है, और असत् जो माया का कार्य है, उसके नेत्र के सदृश प्रकाशक है। कारण और कार्य दोनों में आधार रूप से अनुस्यूत है एव अद्वय अर्थात् परिपूर्ण है। (भा ग व त २७. ६--११)

संसारी जीव के देह में सर्वत्र ही ब्रह्म विराजमान है। उस ब्रह्म के तीन आवरण हैं। एक आवरण देह, इन्द्रिय और मन आदि हैं। दूसरा आवरण अहंकार है। इन्द्रियमय देह में आत्मा का तेज जितना है उसकी अपेक्षा अहंकार वा चैतन्यमय देह में अधिक है। तृतीय आवरण प्रकृति है आत्मा की प्रभा देखना हो तो वह आत्मा प्रकृति में आज्वल्यमान रूप से देख पड़ता है। अर्थात् प्रथम (आत्मगत) आत्म बिम्ब को देहादिगत जानना होगा फिर आत्मसत्ता को अहंकारगत बोध करना होगा, फिर वह दर्शक स्वभावगत प्रकृति से व्याप्त आत्मा का दर्शन कर सकने पर शुद्धब्रह्म के देखने में समर्थ होगा। इसी सुषुप्तावस्था में सूक्ष्मपंचभूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, इत्यादि तंद्रा व निद्रा द्वारा असत्तुल्य अव्याकृत प्रकृति मे लीन. अर्थात् जड़ता को प्राप्त होने पर यह आत्मा विनिद्र अर्थात् ज्ञानरहित वा जड़तारहित एवं अहंकारहीन होकर अपने स्वरूप अर्थात् सच्चिदानंद ब्रह्म को प्राप्त होता है। उस समय यह आत्मा साक्षीरूप से अवस्थित होकर अपनी उपाधि (अहंकार) के नष्ट होने पर स्वयं नष्ट न होने पर भी अपने को नष्ट जानता है। जैसे धन के नष्ट होने पर आपही मानों नष्ट हो गये, इस प्रकार आतुर होते प्रायः लोग देख पड़ते हैं। (भा ग व त २७. १२ -- १५) अपने धर्म का भक्तिपूर्वक यथाशक्ति आचरण, विरुद्ध वा निषिद्ध धर्म (अधर्म) निवृत्त होना, जो प्रारब्ध वा दैव वश प्राप्त हो उसमें संतोष, आत्मतत्त्व के जानने वाले ज्ञानियों के चरणों की सेवा-पूजा। ग्राम्य अर्थात् धर्म, अर्थ, काम इस त्रैवर्गिक धर्म से निवृत्त मोक्षदायक धर्म में रति, शुद्ध एवं मित (जितने में योगाभ्यास करने में कोई विक्षेप न हो उतना ही) भोजन करना। बाधा रहित निर्जन स्थान में रहना। हिंसा (शारीरिक, वाचिक, मानसिक हिंसा, अर्थात दूसरे को मन वाणी और काया से पीड़ित करना) न करना, सत्य बोलना, अन्याय पूर्वक पर धन न ग्रहण करना, जितनी वस्तु की आवश्यकता है उतनी वस्तु का संग्रह रखना। ब्रह्मचर्य रहना, और तप, शौच (बाह्य व आन्तरिक), स्वाध्याय (वेदपाठ), परमपुरुष का पूजन करना। मौन (प्रयोजन से अधिक न बोलना) रहना, आसन जीतकर स्थिर भाव से स्थित होना, फिर धीरे धीरे क्रम से प्राण वायु को जीतना, इन्द्रियों को मनद्वारा विषयों से हटाकर अन्तःकरण में लीन करना। मूलाधार आदि प्राण के स्थानों में किसी एक स्थान में मन सहित प्राण को स्थित करना, भगवान की लीलाओं का मन में ध्यान करना, एवं मन को समाधि (एकाग्रता) में लगाना। इन सम्पूर्ण एवं इनके अतिरिक्त अन्य व्रत आदि उपायों से असत् (विषय) मार्ग में लगे हुये दुष्ट मन को क्रमशः बुद्धि द्वारा योग-साधन में लगाना चाहिये, एवं आलस्य त्याग कर प्राणवायु को जीतना चाहिये।

(यम, नियम और आसन, इन तीन योग के अंगों को क्रमशः कहकर अब प्राणायाम आदि अंग कहते हैं) तदनंतर किसी पवित्र-स्थल में आसनजित् व्यक्ति आसन बिछावे। उस आसन पर स्वस्तिकासन से अथवा जिस आसन से सुखपूर्वक बैठ सके उस आसन से बैठकर शरीर को सीधा करके प्राणायाम का अभ्यास करे। पहले पूरक (बाहर के वायु को भीतर भरना) कुम्भक (उस वायु को भीतर रोकना) रेचक (उस वायु को बाहर निकाल देना) इस तीन प्रकार के प्राणायाम से अनुलोम वा प्रतिलोम क्रम से चित्त को ऐसा शुद्ध करे, जिससे वह अपने चंचलता दोष को त्यागकर एकदम शान्त हो जाय। जैसे वायु और अग्नि के ताव से सोना अपने मल को त्याग देता है, वैसे ही बारंबार प्राणायाम द्वारा श्वासजय करने से योगी का भी मन शीघ्र ही निर्मल हो जाता है। इसके अनंतर समाधि के द्वारा स्वरूप प्राणायामादि जो चार कार्य मनुष्य को करना चाहिये उन्हें कहते हैं,—प्रथम प्राणायाम द्वारा कफ, पित्त आदि शरीर के दोषों को दूर करे, फिर धारणा (वायु के साथ मन को स्थिर करना) से किल्बिष अर्थात् पातक को नष्ट करे, फिर प्रत्याहार (सबसे हटाकर चित्त को ईश्वर में लगाना) से संसर्ग अर्थात् विषय वासना को नष्ट करे, एवं ध्यान से राग द्वेष आदि का त्याग करे। इन सातों अंगों के पश्चात् अन्तिम आठवाँ अंग समाधि (स्थिर मन की अपर ओर प्रवृत्त होने की निवृत्ति) है। इस प्रकार जब मन भलीभाँति निर्मल और योग द्वारा एकाग्र हो तब नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर रख कर भगवान् की इस प्रकार की सुन्दर मूर्त्ति का ध्यान करे। (भागवत २७.१—१२)

मातः! इस भाँति ध्यान की आसक्ति से योगी को हरि में प्रेम होता है, भक्ति से हृदय परिपूर्ण होकर द्रवित हो जाता है। आनंद के मारे रोम खड़े हो जाते हैं। दर्शन की उत्कंठा के कारण नेत्रों में आनन्द के आँसू भर आते हैं। इस प्रकार मन वाणी से न ग्रहण करने योग्य निराकार हरि के ग्रहण करने को बंशी सदृश उपायस्वरूप उस साधक का चित्त क्रमशः ध्येय पदार्थ (अर्थात् उस कल्पित हरि के रूप) से वियुक्त हो जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण विषयों से अतीत हो जाता है। (भागवत २७-३४)

जननि! इस संसार में प्राणी जैसे धन और पुत्र को अति स्नेहवश अपना मानकर भी अपने से विभिन्न जानता है, वैसे आत्मज्ञानीजन शरीरादि को आत्मा से अलग देखते हैं। जैसे काष्ठ की ज्वलन्त अवस्था धूम, अग्नि, शिखा, ये तीनों ही अग्नि से उत्पन्न जान पड़ते हैं, पर अग्नि काष्ठ से और इन अवस्थाओं से भी अलग है। उसी प्रकार साक्षी आत्मा भी अग्नि के सदृश पंचतत्व इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीव से अलग है। जीवात्मा से ब्रह्म तथा वा परमात्मा पृथक है। इसी भाँति प्रधान (माया स्वरूप तत्व समूह) से उनका प्रवर्त्तक साक्षी परमात्मा अलग है[1] (वही २७-३८—४०)।"

यही कपिल मुनि के उपदिष्ट योग का सारांश है। यह सांख्य-तत्ववाद पर आश्रित पातंजल योग का प्राणायाम प्रधान रूप है। प्राणायाम की महिमा इस योग में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जिस प्रकार हठयोग में। केवल इसमें भक्ति का मिश्रण है।

१. पं० रूपनारायण पांडेय का अनुवाद। शुकोक्तिसुधासागर से।

है, शंका करता है, मिथ्या कहता है, वह पुत्र पत्नी समेत शाकिनी-मुख में पतित होता है। उसका रक्त, उसका मांस और उसकी त्वचा चामुण्डा का आहार होता है। योगिनियाँ और भैरवियाँ उसकी हड्डी चबा जाती हैं[1]। शाक्तों का कुलार्णव तंत्र स्पष्ट रूप से उस[1] दिशा तक को नमस्कार करने योग्य घोषित करता है जिधर श्री नाथ का चरण कमल गया हो, क्योंकि पादुका से बड़ा कोई मंत्र नहीं है, श्री गुरु (नाथ) से बड़ा कोई देव नहीं है, शाक्त मार्ग से बढ़कर कोई मार्ग नहीं है और कुलपूजन से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है।[2]

सो, यह आचरण नया नहीं है, काफी पुराना है ऐसे ही योगियों को लक्ष्य करके हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि वही योगी कुलीन कहलाता है जो नित्य 'गोमांस' का भक्षण करता रहता है और ऊपर से 'अमर वारुणी' का पान करता रहता है! और योगी तो कुल-घातक हैं क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलट कर तालु देश में ले जाने को ही 'गोमांस भक्षण' कहते हैं। निस्संदेह, यह महापातक को नाश करने वाला है। ब्रह्मरंध्र के पास, सहस्रार पद्म के मूल में जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्तिकेंद्र है, वहीं चंद्रमा का स्थान है, उसी से अमृतरस चुआ करता है, योगी की ऊर्ध्वगा जिह्वा उसी अमृत रस का पान करती है, वही अमर वारुणी है[3]। इसमें जिन्हें कुलघातक कहा गया है वे ऐसे ही योगी रहे होंगे जो 'देवी का खाजा' और 'भैरूंका प्याला' संभाले रहते होंगे।

---

१. कौलिकान् कुलमार्गं च कुलद्रव्यं कुलांगनाः।
ये द्विषन्ति जुगुप्सन्ते निन्दन्ति च हसन्ति च॥
ये सूयन्ते च शंकन्ते मिथ्येति प्रवदन्ति ये।
ते शाकिनीमुखे यान्ति सदारसुतबांधवाः॥
पिबन्ति शोणितं तस्य चामुण्डा मांसमुत्त्वचः।
अस्थीनि चर्वयन्त्यस्य योगिन्यो भैरवीगणाः॥
— गो. सि. सं., पृ० ४७ में उद्धृत

२. श्रीनाथचरणाम्भोजं यस्यां दिशिविराजते।
तस्यै दिशे नमस्कुर्याद् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये॥
न पादुकात् परो मंत्रो न देवः श्रीगुरोः परः।
न हि शाक्तात् परो मार्गो न पुण्यं कुलपूजनात्॥
— गो. सि. सं (पृ० ४६) में उद्धृत

३. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीं।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥
'गो' शब्दे नोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतः वह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी॥
—हठ० ३. ४६-४८

वस्तुतः गोरखनाथ के नेतृत्व में ही वाममार्गी शाक्त साधकों का एक दल जो काया-योग में विश्वास करता था, योगिसमाज के अन्तर्भुक्त हुआ था। उसकी अपनी क्रिया-पद्धति का अवशेष यह आचार है। कालक्रम से परम्परा के नष्ट होने से वह अपने विशुद्ध पार्थिव रूप में जीता रह गया है।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि गोरखनाथ के प्रवर्तित योग-मार्ग में शक्ति का स्थान एकदम नहीं था। उन दिनों शैव और शाक्त साधनाएं परस्पर एक दूसरे से गुंथी हुई थीं। शिव और शक्ति का अभेद सिद्धान्ततः गोरखनाथ के मत में मान्य था। पिण्ड में ब्रह्माण्ड व्यापिनी परासंवित् ही कुण्डलिनी के रूप में स्थित है जिसका उद्बोधन हठयोग का प्रधान लक्ष्य है। वे विश्वास करते थे कि शिव के भीतर ही शक्ति का वास है और शक्ति के भीतर शिव का निवास है, दोनों एकमेक होकर अनुस्यूत हैं। पिण्ड की साधना के मूल में यही शिव और शक्ति का अभेद रूपी सामरस्य है। हठयोग पिण्ड पर आधारित है और पिण्ड केवल परासंवित् रूपा आदि शक्ति का निवास है। चंद्रमा और चंद्रिका में जिस प्रकार कोई अन्तर नहीं उसी प्रकार शिव-शक्ति अभिन्न हैं।[1] वस्तुतः जीवमात्र में वही सृष्टि-विधात्री परासंवित् स्फुटित हो रही है, तत्त्व-तत्त्व में परम रचना-चतुरा वही परासंवित् प्रकाशित हो रही है, ग्रास-ग्रास में—प्रत्येक भोग्य पदार्थ में—चटुल चंचला लपटा वही परासंवित् उद्भासित होकर विहार कर रही है, और प्रकाश के प्रत्येक तरंग में वही महामहिमा शालिनी देवी उच्छलित हो रही है—जगत् वस्तुतः उसी का स्वरूप है:

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना संविदेका विभाति ।
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति ॥
ग्रासे ग्रासे बहलतरला लम्पटा संविदेका ।
भासे भासे भजति भवता बृंहिता संविदेका ॥

—सि. सि. सं. ४।२९

हमने अनेक स्थलों पर पहले ही वज्रयान, योगिनीकौलमार्ग, तंत्रयान जैनमत आदि की चर्चा की है, इसलिये उनका विस्तार करना यहां उचित नहीं समझा गया।

---

१. उक्तं च—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव पश्यामि चंद्रचंद्रिकयोरिव ॥
नाना शक्तिस्वरूपे सर्वं पिण्डाश्रयत्वतः ।
पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥

—सि. सि. स. ४-३७-३८

२१

लोकभाषा में संप्रदाय के नैतिक उपदेश

संस्कृत में योगियों के जो भी ग्रंथ उपलब्ध हैं वे साधारण तौर पर साधनमार्ग के ही व्याख्या-परक ग्रंथ हैं। उनसे योगियों के दार्शनिक और नैतिक उपदेशों का आभास बहुत कम मिलता है। हिंदी में गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सबदी आदि प्रचलित हैं उनमें भी साधनमार्ग की व्याख्या की गई है पर उनमें योगियों के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक-मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है। इस दृष्टि से इन हिंदी रचनाओं का विशेष महत्त्व है।

हिंदी की बहुत-सी रचनाएँ संवाद रूप में मिलती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि दो महात्माओं के सवाद के रूप में अपने दार्शनिक मत और धार्मिक विश्वास को प्रकट करने की यह पद्धति नाथपंथियों का अपना आविष्कार है। इस पद्धति ने परवर्ती सन्त साहित्य को खूब प्रभावित किया था और संवाद रूप में अनेक ऐसे ग्रंथ लिखे गए जिनका उद्देश्य संप्रदाय के विश्वास और मत का प्रचार है। म छीं द्र गो र ख बो ध जिसे संक्षेप में गो र ख बो ध कहा जाता है ऐसा ही संवाद ग्रंथ है। इसमें गोरखनाथ के अनेक प्रश्नों का उत्तर मत्स्येन्द्रनाथ ने दिया है। यद्यपि यह ग्रन्थ गोरखनाथ-लिखित माना जाता है तथापि इसे हम मत्स्येद्रनाथ के सिद्धान्त का व्याख्याता ग्रंथ ही कह सकते हैं। गोरखनाथ ने स्वयं इस प्रकार का कोई ग्रंथ लिखा होगा, ऐसा विश्वास न करना ही उचित है। यह बहुत बाद का ग्रंथ होगा। लेकिन इसमें आत्मा, मन, पवन, नाद, बिंदु, सुरति और निरति आदि के स्वरूप पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है और इसे परवर्ती योगी-संप्रदाय का विश्वास-व्यापक ग्रंथ आसानी से माना जा सकता है। गो र ष द त्त गु ष्टि, गो र ष ग णे श गु ष्टि, म हा दे व गो र ष गु ष्टि, न र वै बो ध आदि रचनाएं इसी श्रेणी की हैं। इन्हें बहुत प्राचीन और गोरखनाथ की स्वलिखित पुस्तक मानने का आग्रह नहीं होना चाहिए। परन्तु इन ग्रंथों का महत्व अवश्य ही बहुत अधिक है। यह आवश्यक नहीं कि इन में जो विचार प्रकट किए गए हैं वे भी नये हों। हो सकता है कि ये परंपरा लब्ध पुरातनज्ञान का ही नया रूप हों। रचना नई होने से ज्ञान नया नहीं हो जाता।

गोरखनाथ के नाम पर जो पद मिले हैं वे कितने पुराने हैं, यह कहना कठिन है। इन पदों में से कई दादूदयाल के नाम पर, कई कबीर के नाम पर और कई नानकदेव के नाम पर पाए गए हैं। कुछ पद लोकोक्ति का रूप धारण कर गए हैं, कुछ ने जोगीड़ों का रूप लिया है और कुछ लोक में अनुभव सिद्ध ज्ञान के रूप में चल पड़े हैं। इन पदों में यद्यपि योगियों के लिये ही उपदेश हैं, अतएव इनमें भी उसी प्रकार की साधना मूलक बातें पाई जाती हैं जो इस प्रकार की सभी रचनाओं का मुख्य प्रतिपादन हैं पर बहुत से पद ऐसे हैं जिन से लेखक के नैतिक विश्वास का पता चलता है।

जिस ज्ञान का उपदेश इस प्रकार के साहित्य में दिया गया है उसके लिए गुरु का होना परम आवश्यक माना गया है, इस मार्ग में निगुरे की गति नहीं है—

गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला।
गुरु बिनं ग्यांन न पाईला रे भाईला ॥

—गोरखबानी, पृ० १२८

गुरु और शिष्य में अन्तर इतना ही है कि गुरु के पास अधिक तत्त्व होता है और चेले के पास कम; अधिक तत्त्व वाले से कम तत्त्व वाले को सदा ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। इस ज्ञान को पा लेने के बाद शिष्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि गुरु के पीछे पीछे भटकता ही फिरे। मन में जचे तो साथ रह सकता है, न जँचे तो अकेला ही रम सकता है—

अधिक तत्त ते गुरु बोलिये हींण तत्त तें चेला।
मन मांनें तो संगि रमो नहीं तो रमो अकेला ॥

—गो० बा०, पृ० ५५

योगी के लिये मन की शुद्धता और दृढ़ता आवश्यक है। उसे रातदिन चलते रहने की और नाना तीर्थों में भटकते फिरने की एकदम जरूरत नहीं है। क्योंकि पंथ चलने से पवन की साधना रुक जाती है और नाद, बिंदु और वायु की साधना शिथिल हो जाती है। फिर जिसका विश्वास है कि संपूर्ण तीर्थ घट के भीतर ही है वह भला कहां भरमता फिरेगा ?—

पंथि चलै चलि पवनां तूटै नाद बिंद अरु बाई।
घट ही भीतरि अठसठ तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई ॥

—गो. बा., पृ० ५५

मन यदि चंगा है तो कठौती में गंगा है। बंधन को अगर दूर कर दिया गया तो समस्त जगत् का गुरुपद अनायास मिल जाता है—

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा।
बांध्या मेल्हा तो जगत्र चेला ॥

— वही, पृ० ५३

हँसना खेलना कोई निषिद्ध कार्य नहीं है। मूल बात है चित्त की दृढ़ता मनुष्य को इस मूल तथ्य को नहीं भूलना चाहिये। फिर तो हंसने-खेलने में कोई बुराई नहीं है। काम और क्रोध में मन न आसक्त हो, चित्त की शिथिलता उसे बहकने न दे तो हँसने-खेलने और गाने-बजाने वाले आदमी से नाथ जी प्रसन्न ही होते हैं—

हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। कांम क्रोध न करिबा संग।
हसिबा षेलिबा गाइबा गीत। दिढ़ करि राषि आपना चीत
हसिबा षेलिबा धरिबा ध्यांन। अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियांन ॥
हसै षेलै न करै मन भंग। ते निहचल सदा नाथ के संग

—वही पृ० ३-४

योगी को वाद-विवाद के बखेड़े में नहीं पड़ना चाहिये। जिस प्रकार अड़सठ तीर्थ अन्त तक समुद्र में ही लीन हो जाते हैं उसी प्रकार योगी को गुरु मुख की वाणी में ही जीर्ण हो जाना चाहिये।

कोई वादी कोई विवादी जोगी कौं वाद न करना।
अठसठि तीरथ समंदि समावैं यूं जोगी कौं गुरुमुषि जरना।

—वही पृ० ५

योगी जल्दबाजी करके सिद्धि नहीं पा सकता। उसे सोच समझ कर बोलना चाहिए, फूंक फूंक कर चलना चाहिये, धीर भाव से एक एक पग धरना चाहिए। गर्व करना उसके लिये बहुत बुरी बात है। उसका व्यवहार सहज होना चाहिए। यह नहीं कि जहां-तहां फटफटा कर बोल उठे, धड़ धड़ाकर चला जाय और उचकता कूदता निकल जाय। धैर्य उसकी सब से बड़ी साधना, है।

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा
धीरैं धरिबा पावं।
गरबं न करिबा सहज रहिबा
भणत गोरष रावं।'

—वही पृ० ११

योगी बड़ी विकट साधना करता है। उसका मन यदि थोड़ा भी प्रलोभनों से अभिभूत हुआ तो उसका पतन निश्चित है। इसीलिये वह समस्त विकारों के जीतने की साधना करता है। धीर वह है जिसका चित्त विकारों के होते हुए भी विकृत न हो। कालिदास ने कहा था कि "विकार हेतौ सतिविक्रियन्ते येषांन चेतांसि त एव धीराः" और गोरषनाथ ने कहा है कि

नौ लष पातरि आगे नाचैं पीछैं सहज अषाड़ा।
ऐसे मन लै जोगी षेलै तब अन्तरि बसै भँडारा॥

—वही पृ० २१७

विकारों के भीतर से निर्विकार तत्त्व का साक्षात्कार पा लेना निस्संदेह कठिन साधना है। योगी यही करता है। अंजन अर्थात् विकारों के भीतर निरंजन अर्थात् विकार-हीन शिव को उसी प्रकार पा लेना जिस प्रकार तिल में से कोई तेल निकाल लेता है, योगी का लक्ष्य है। मूर्त जगत के भीतर अमूर्त परम तत्त्व का स्पर्श पाने के पश्चात् ही योगी की वह निरन्तर क्रीड़ा शुरू होती है जो चरम आनन्द है। गोरखनाथ ने कहा है—

अंजन माँहि निरंजन भेट्या,
तिल मुष भेट्या तेलं।
मूरति माँहि अमूरति परस्या,
भया निरन्तरि षेलं॥

—वही पृ० २१७

योगी का आचरण ही वस्तुतः प्रधान वस्तु है, कथनी नहीं। बड़ी बड़ी बातें बघारना उचित नहीं है। गोरखनाथ के नाम पर चलने वाले अनेक पदों में शील की महिमा बताई गई है। केवल योगी ही नहीं शीलवान् गृही भी पवित्र बताया गया है –

सहज सील का धरै सरीर।
सो गिरही गंगा का नीर॥ —वही पृ० १०

एक पद में शिष्य ने गुरु से पूछा है कि उसका आचरण कैसा हो। वह यदि वन जाता है तो क्षुधा सताती है, नगर में जाता है तो माया व्यापती है, भर पेट खाता है तो मन में विकार उत्पन्न होता है। यह कठिन समस्या है कि यह जल विन्दु-विनिर्मित काया सिद्ध कैसे हो?

स्वामी बन षंडि जाउं तो षुध्या व्यापै
नग्री जाउं त माया।
भरि भरि षाउ त बिंद वियापै,
क्यों सीझंति जलब्यंद की काया॥
वही पृ० १२

गुरु ने मध्यममार्ग का उपदेश दिया। खाने पर टूट न पड़ना, बिन खाए भी न रहना; दिनरात अन्तर की ब्रह्म-अग्नि का रहस्य चिंतन करना, किसी बात पर आग्रह न रखना, एक दम निकम्मा भी न हो जाना—ऐसा ही गोरखनाथ कह गए हैं—

धाये न षाइबा भूषे न मरिबा,
अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं।
हठ न करिबा पड़्या न रहिबा,
यूं बोल्या गोरष देवं॥ —वही पृ० १२

योगी लोग गृही को बहुत ही नगनीव जीव समझते हैं। उनकी कुछ ऐसी धारणा है कि काम क्रोध का दास ही गृही होता है। एक बार जो गृहस्थाश्रम के बन्धन में बँध गया वह ज्ञान की बात करने का भी अधिकारी नहीं रहा। गृहस्थ का ज्ञान, नशेबाज का ध्यान, बूचे का कान, वेश्या का मान और वैरागी का माया बटोरना, इनके अर्थ में समान भाव से निरर्थक हैं—

गिरही को ग्यांन अमली को ध्यान,
बूचा को कान, बेस्या को मान
बैरागी अर माया स्यूं हाथ,—
या पाँचौं को एकै साथ॥ - वही पृ० ७७

क्योंकि गृही पाशबद्ध जीव है, उसे ज्ञान में अधिकार नहीं:

गिरही होय करि कथैग्यांन,
अमली होय करि धरै ध्यान।
बैरागी होय करै आसा,
नाथ कहै तीनों पासा पासा॥ वही पृ० ७७

इस मत में पूर्ण ब्रह्मचर्यमय जीवन का आदर्श है. गृही में यह आदर्श नहीं है। बिंदु के संयमन से बड़ी सिद्धि मिलती है। पर दुर्भाग्यवश यह शरीर भी बिंदु विनिर्मित है, अतएव अशुद्ध है। योगी लोग इसकी अपवित्रता के प्रति भी पर्याप्त सचेत हैं। जब तक माता-पिता का दिया हुआ यह धातुमय शरीर मिटा नहीं दिया जाता तब तक नाथ पद तक पहुँचना असंभव है। यह असम्भव नहीं है। मन को गुरुमुख करने से और काया को अग्निमुख करने से इस शरीर की अपवित्रता मिटाई जा सकती है और नाथ पद तक पहुँचा जा सकता है :

मनमुषि जाता गुरुमुषि लेहु
लोही मास अगनि मुषि देहु।
मात पिता की मेटौ धात,
ऐसा होइ बुलावै नाथ॥

—वही पृ० ६१

क्योंकि साधना के द्वारा इस जड़-शिला के समान अकिंचन शरीर को सिद्धि योग्य बनाया जा सकता है। नाद और बिंदु अपने आप में जड़ प्रस्तर के समान ही तो हैं, पर उनका उचित उपयोग किया जाय तो वे सिद्धों के साथ मिला देने में समर्थ हैं। नाद-बिन्दु का नाम जपते रहने से यह काम नहीं होगा, यह तो उचित साधना का विषय है :

नाद नाद सब कोइ कहै, नादहिं ले को बिरला रहै।
नाद बिंद है फीकी सिला, जिहिं साध्या ते सिधैं मिला॥

—वही पृ० ६१

गोरखनाथ विशुद्ध ब्रह्मचारी को ही इस मार्ग का पथिक स्वीकार करते हैं। नाद और बिंदु दोनों का संयम आवश्यक है :

यंद्री का लड़बड़ा, जिभ्या का फूहड़ा।
गोरष कहै ते परतषि चूहड़ा॥
काछ का जती मुख का सती।
सो सत पुरुष उतमो कथी॥

—वही पृ० ५२

इस प्रकार नाद (वाणी) और बिंदु (वीर्य) को संयमित रखने वाला पुरुष साक्षात् शिव रूप हो जाता है :

धन जोबन की करै न आस,
चित्त न राषै कांमिनि पास
नादबिंद जाकै घटि जरै,
ताकी सेवा पारबती करै।

परन्तु इसके लिये मद्य भांग धतूरा आदि नशे की चीजों का सेवन करना अनुचित है। पर-निंदा और नशीली वस्तुओं का सेवन इन दो बातों को नरक का हेतु माना गया है—

जोगी होइ पर निंद्या झषै। मद मांस अरु भांगि जो भषै।
इकोतर सै पुरिषा नरकहिं जाई। सति सति भाषंत श्री गोरष राई
—वही पृ० ५६

अवधू मांस भषन्त दया धरम का नास।
मद पीवन्त तहां प्राण निरास॥
भांगि भषंत ग्यांन ध्यांन षोवन्त।
जम दरबारी ते प्रांणी रोवन्त॥
—वही पृ० ५७

इस प्रकार इस मार्ग में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनादर, आन्तरिक शुद्धि और मद्यमांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिंदी में प्राप्त होने वाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इस स्वर ने परवर्ती सन्तों के लिये आचरण-शुद्धि प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। सन्त साधकों को बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी। इस मार्ग की सब से बड़ी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इस कमजोरी ने इस मार्ग को नीरस लोक-विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी इसका दृढ़ कंठस्वर उत्तरभारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। इस दृढ़ कंठस्वर ने यहां की धार्मिक साधना में कभी भी गलदश्रु भावुकता और ढुलमुलपन नहीं आने दिया। उत्तर भारत के साहित्य में भी इनके कारण दृढ़ता और आचरण शुद्धि भुलाई नहीं जा सकी है।

१५

उपसंहार

गोरखनाथ अपने युग के सब से महान् धर्मनेता थे। उनकी संगठन-शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ धर्मगुरु का व्यक्तित्व था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेश से एकदम अनाविल और कुशाग्र तीव्र थी। उनके चरित्र में कहीं भी भावविह्वलता नहीं है। जिनदिनों उन्होंने जन्मग्रहण किया था उन दिनों भारतीय धर्मसाधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन सात्त्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरखनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण विचूर्ण कर दिया। लोक-जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी उसे गोरखनाथ ने नई प्राणशक्ति से अनुप्राणित किया। किसी भी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होंने दुर्बलता नहीं दिखाई। वे स्वयं पंडित व्यक्ति थे पर यह अच्छी तरह जानते थे कि पुस्तक लक्ष्य नहीं, साधन है। उन्होंने किसी से भी समझौता नहीं किया, लोक से भी नहीं वेद से भी नहीं, परन्तु फिर भी उन्होंने समस्त प्रचलित साधना मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया। केवल एक वस्तु वे कहीं से न ले सके। वह है भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेशमात्र भावालुता को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प और विकल्प मिथ्या हैं, संसार मृगमरीचिका है, श्रुतियाँ परम तत्त्व के विषय में भिन्न विचार प्रकट करती हैं और एक अखण्ड सच्चिदानंद ही सत्य हैं तो भावावेश का स्थान कहाँ है? क्यों मनुष्य उस तत्व की उपलब्धि के लिये मचलने का अभिनय करें, क्यों उसे प्रसन्न और अनुकूल करने के लिये यजन-पूजन करें?—

> अविवेक विवेक विबोध इति अविकल्प विकल्प विबोध इति।
> यदिचैक निरन्तर बोध इति किमुरोदिषि मानस सर्वसम।
> बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति भवं वियदादिरयं मृगतोय समः।
> यदि चैक निरन्तर सर्व शिवः किमु रोदिषि मानस सर्वसमः।
> सविभक्तिविभक्तिविहीन परं ऋत्युकार्यनिकायविहीन परम्।
> यदि चैक निरन्तर सर्व शिवः यजनच कथं स्तवनंच कथम्! —अवधूत गीता

—यही गोरखनाथ के उपदेशों का सच्चा रुख है। यह नहीं कि यही उनके वाक्य हैं बल्कि यह कि यही उनके द्वारा उपदिष्ट साधना का स्वर है—भावावेग विनिमुक्त, शुद्धबुद्धिमूलक ज्ञानमार्ग। इस ज्ञान के निष्कर्ष को उन्होंने सदा सामने रखा। वह निष्कर्ष क्या है, इसकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। यथासाध्य हमने विविध उपलब्ध तथ्यों के आधार पर उसको समझने का प्रयत्न किया है। परन्तु वह केवल बुद्धि-विलास

नहीं है, वह साधना का विषय है। दीर्घ आयास के बाद उसे प्राप्त किया जाता है। उसमें शुद्ध गुरु की आवश्यकता होती है। इस साधन-मार्ग में निगुरे को कोई स्थान नहीं है। फिर भी हमने यह जो प्रयत्न किया है उसका कारण यह है कि हमने अपने को नितांत असहाय निगुरा नहीं समझा। सिद्धों की कुछ वाणी अब भी हमारे बीच है, वह महामंत्र अब भी साधनाकाश में उड़ रहा है, अब भी वह उपयुक्त उर्वरा भूमि की प्रतीक्षा कर रहा है। उसको समझने का प्रयत्न अश्लाघ्य नहीं है। वह महामंत्र ही हमारा गुरु है। वह गुरु ही सच्चिदानंद का पद है, वही सब के ऊपर सदा विराजमान है क्यों उस पद को अवाच्य समझा जाय, क्यों उस तत्त्व को अचिन्त्य माना जाय, इसलिये वह जो है सो बना रहे। हम उसे गोरक्षनाथ का साक्षात् तेजः स्वरूप मानते हैं। उस ज्योतिर्मय नाथ तेज की जाय हो, वही हमारा गुरु है:

अवाच्यमुच्येत कथं पदं तत्
अचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्त्यं।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै
नमोऽस्तु कस्मै बत नाथ तेजसे॥

—गो. सि. सं. पृ० ५२

सहायक ग्रंथों की सूची

१. अद्वयवज्रसंग्रह—गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़, नं० ४०, बड़ौदा १९२७ ई०

२. अमरौघशासनम्—सिद्धगोरखनाथ-विरचित; महामहोपाध्याय पं० मुकुन्दराम शास्त्रीद्वारा सम्पादित, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि, ग्रंथांक २०, बंबई, १९१८.

३. अष्टोत्तरशतोपनिषद:—निर्णयसागर प्रेस, बंबई, चतुर्थ संस्करण, १ ३२

४. इ० ए० — इन्डियन एण्टिक्वैरी

५. ई० रि० ए० — इनसाइक्लोपीडिया आव् रेलिजन ऐण्ड एथिक्स

६. कबीर—हजारी प्रसाद द्विवेदी, बंबई (हिंदी ग्रंथ रत्नाकर), १९४२

७. कबीर-ग्रंथावली—बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० द्वारा सम्पादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रयाग १९२८

८. कल्याण—गोरखपुर,

(१) शिवांक (२) योगांक (३) शक्ति-अंक (४) साधना-अंक

९. कैटेलागस कैटेलोगोरम—थियोडोर आफ्रेख्ट, लिपज़िग, १८९६

१०. कौ० ज्ञा० नि०—कौलज्ञान निर्णय, डा० प्रबोधचंद्र बागची द्वारा सम्पादित, कलकत्ता संस्कृत सीरीज़, नं० ३, कलकत्ता, १९३४

११. कौ० मा० र०—कौलमार्गरहस्य (बंगला), स्व० सतीशचंद्र विद्याभूषण कलकत्ता, १३३५ बंगाब्द

१२. कौलावली निर्णय—तांत्रिक टेक्सट्स, जिल्द १४, आथर एवेलेन द्वारा संपादित, कलकत्ता

१३. गंगा—पुरातत्त्वांक, श्री राहुल सांकृत्यायन के लेख

१४. गंभीरनाथ प्रसंग (बंगला) श्री अक्षयकुमार बंद्योपाध्याय-लिखित, फेनी नवाखाली, बंगाब्द १३३२

१५. गढ़वाल का इतिहास—श्री हरिकृष्ण रतूड़ी, देहरादून, १९२८

१६. गीतारहस्य—स्व० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, (स्व० माधवराव सप्रे का अनुवाद)

१७. गो० प०—गोरक्ष-पद्धति, पं० महीधर शर्मा के भाषानुवाद सहित, बंबई, सं० १९९० वि०

१८. गोपीचंद (उर्दू)—पंडित कवि कालीदास साहब गुजरानवाला, लाहौर. १९४४

१९. गोपीचंद्रेरगान—दो जिल्द, श्री विश्वेश्वर भट्टाचार्य द्वारा संकलित और कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण

गोरखनाथ ऐण्ड मिडिएवल हिंदू मिस्टिसिज्म—डा० मोहन सिंह लिखित, लाहौर, १९३७

गोरखबानी—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल-संपादित हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित, प्रयाग १९९९ वि०

गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज़—दे० ब्रिग्स

गो० सि० सं०—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, म० म० पं० गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित, सरस्वती भवन टेक्सट्स, नं० १८, काशी १९२५

ग्लासरीज़ आव् दी ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स् आव् दि पंजाब ऐण्ड दि नार्थ-वेस्टर्न प्राविंसेज़—एच० ए० रोज़, जि० ३, लाहौर १९१४ ई०

घेरण्ड संहिता—सेक्रेड बुक आव् दि हिन्दुज़, प्रयाग, १८९१

चर्याचर्य विनिश्चय—बौ० गा० दो० में संगृहीत

ज० डि० ले०—जर्नल आव् दि डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, २८वां जिल्द (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३५)—में डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा सम्पादित निम्नलिखित ग्रंथ—(१) तिल्लोपाद का दोहाकोष (२) सरहपाद का दोहाकोष (३) कण्हपाद का०, (४) सरहपादीय दोहासंग्रह, (५) प्रकीर्ण दोहा-संग्रह। इसकी अन्य जिल्दों का भी यथास्थान उल्लेख है।

जायसी ग्रंथावली—पं० रामचंद्र शुक्ल-संपादित, काशी, १९०४

ज्ञानसिद्धि—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ नं० ४४, बड़ौदा १९२९

ज्ञानेश्वर चरित्र—पं० लक्ष्मण रामचंद्र पंगारकर द्वारा लिखित और पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे द्वारा अनुवादित, गोरखपुर सं० १९९०

ट्रा० का० सें० प्रो०—दि ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स् आव् सेण्ट्रल प्राविंसेज आव् इंडिया, ई० वी० रसेल और रायबहादुर हीरालाल संपादित, चार जिल्दों में, लंदन, १९१६

ट्रा० का०—ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आव् दि नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़ ऐण्ड आवध, विलियम क्रुक, कलकत्ता १८९६

तारानाथ—गेशिख्टे देस् बुद्धिस्मुस् इन इन्डियन काउस देम तिबेतिशेन् युबेर सेट्स् फन् अन्तन शिफ्नेर (जर्मन भाषा में तारानाथ नामक तिब्बती ऐतिहासिक के ग्रंथ का अनुवाद, जिसके आवश्यक अंश का अंग्रेजी अनुवाद लेखक (इ० हि०) के लिये डा० ए० वरेन्सम ने कर दिया था।) सेन्टपीटर्सबर्ग, १८६९

दि इन्डियन बुद्धिस्ट आईकोनोग्राफी मेनली बेस्ड आपोन दि साधनमाला ऐण्ड कॉग्नेट तान्त्रिक टेक्सट्स। बी. भट्टाचार्य द्वारा लिखित आक्सफोर्ड, १९२४

३५. दि पीपुल आफ इन्डिया—हर्बर्ट रिजली, कलकत्ता १९०८
३६. दि सर्पेन्ट पावर—आर्थर एवेलन लिखित लंडन १९१९
३७. दि सेन्सस आव् इन्डिया १९२१, १९३१
३८. नागरसर्वस्व—पद्म श्री विरचित और तनसुखराम शर्मा द्वारा संपादित, बंबई १९२१
३९. पदुमावती—बिब्लोथिका इन्डिका, न्यू सीरीज नं० ११७२ जी० ए० ग्रियर्सन और सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, कलकत्ता १९०७
४०. परशुरामकल्पसूत्र—रामेश्वरकृत टीका सहित, गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज में प्रकाशित और बी. ए. महादेव शास्त्री द्वारा संपादित
४१. परसंगपूरनभगत (गुरुमुखी)—मियाँ कादरयार कृत, लाहौर १९४४
४२. परानंद सूत्र—गायकवाड़ सीरीज ५६, बड़ौदा १९३१ ई०
४३. पूरन भगत (उर्दू)—पंडित कवि कालिदास साहब शायर, गुजरानवाला द्वारा लिखित लाहौर, १९४४
४४. प्र. चि.—प्रबंध चिन्तामणि—हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा अनुवादित और मुनि श्री जिनविजय जी द्वारा संपादित, सिंघी जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद-कलकत्ता, १९४०
४५. प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज ४४, बड़ौदा १९२९
४६. प्राणसंगली—सन्तसम्पूरन सिंह जी द्वारा संपादित, तरनतारन पंजाब
४७. डायसन—दि सिस्टम आफ वेदान्त, पी डायसन, शिकागो १९१२
४८. बाँगला साहित्येर इतिहास (बंगला)—श्री डा० सुकुमार सेन, कलकत्ता, १९४०
४९. बागची—देखो कौ. ज्ञा. नि.
५०. ब्रह्मसूत्रम्—शांकरभाष्यसहित, प० वासुदेव लक्ष्मणशास्त्री पणशीकर संपादित, बंबई, १९२७
५१. ब्रिग्स—गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज, श्री जार्ज वेस्टन ब्रिग्स-लिखित, कलकत्ता १९३८
५२. बौ. गा. दो.—बौद्ध गान ओ दोहा (बंगाक्षरों में मुद्रित) स्व० पं० हरप्रसाद शास्त्री-सम्पादित, कलकत्ता, १३२३ बंगाब्द
५३. भरथरी चरित्र—(नौ खण्ड) हावड़ा, १९४२ ई०
५४. भारतवर्ष में जाति-भेद—श्री क्षिति मोहन सेन, कलकत्ता १९४०
५५. भारतवर्षीय उपासक संप्रदाय (बंगला)—श्री अक्षयकुमार दत्त, कलकत्ता १३१४ बंगाब्द (द्वितीय संस्करण)
५६. भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय एम. ए. लिखित, द्वितीय संस्करण काशी १९४५ ई०
५७. भ्रमरगीत सार—पं० रामचंद्र शुक्ल-संपादित, बनारस, १९९९ सं०
५८. महार्थमंजरी—गोरक्षापरपर्याय महेश्वर विरचित, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि ग्रंथांक २०

५९. मालतीमाधवम् -जगद्धरकृत टीकासहित, एम. आर. काले द्वारा संपादित, बंबई १९२८
६०. मिडिएवल मिस्टिसिज्म आव् इन्डिया,—श्री क्षितिमोहनसेन, लंदन १९३५
६१. योग उपनिषद:—अड्यार लाइब्रेरी, अ. महादेवशास्त्री-संपादित, अड्यार १९२०
६२. योगदर्शन (बंगाक्षरों में)—कापिलमठ संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित
६३. योगप्रवाह—पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा लिखित, श्री संपूर्णानंद द्वारा संपादित, काशी सं० २००३
६४. यो. सं. आ.—योगिसंप्रदायाविष्कृतिः, चंद्रनाथ योगी, अहमदाबाद १९२४
६५. राजपूताने का इतिहास—म. म. पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखित अजमेर
६६. ल नेपाल (फ्रेंच भाषा में)—नेपाल का इतिहास, सिलवां लेवी, पेरिस १९०५
६७. वामकेश्वर तंत्रान्तर्गत नित्याषोडशिकार्णवः—श्री-भास्कररायोन्नीत सेतुबंध-व्याख्यानसहितः, आनंदाश्रम संस्कृत ग्रंथावली ५६ पूना, १९०८ ई०
६८. विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)—हजारीप्रसाद द्विवेदी संपादित, शान्तिनिकेतन, बंगाल
६९. वैष्णविज्म शैविज्म ऐण्ड आदर माइनर रिलिजियस सिस्टम्स—आर० जी० भाण्डारकर, स्ट्रासबर्ग १९१३.
७०. शक्ति एण्ड शाक्त (द्वितीय संस्करण)—जान वुडरफ मद्रास १९२०
७१. शारदातिलक तन्त्रम्—आर्थर एवेलन द्वारा संपादित कलकत्ता १९३३
७२. शिवसंहिता—पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १९१४
७३. श्री गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ (गुरुमुखी)—कविचूड़ामणि भाई सन्तोख सिंह जी, द्वितीय संस्करण श्री वीरसिंह जी द्वारा संपादित, १९३५ ई०
७४. श्री गुह्यसमाजतंत्र—गायकवाड़ सीरीज नं० ५३, बड़ौदा १९३१ई०
७५. श्रेडर०—इन्ट्रोडक्शन टु पांचरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्य संहिता, अड्यार १९१२.
७६. स. द. स.—सर्वदर्शनसंग्रह, सायणमाधवाचार्यप्रणीत म. म. वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर संपादित पूना १९२४ ई०
७७. सहजाम्नाय पंजिका—बौ गा. दो. में संगृहीत
७८. साधनमाला—गायकवाड़ज ओरिएण्टल सीरीज नं० २६ और ४१ बड़ौदा
७९. सि. सि. सं.—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, म. म. पं. गोपीनाथ कविराज-संपादित, सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स १३, काशी १९२५ ई०
८०. सु. च. —सुधाकरचंद्रिका, पद्मावती (ऊपर दे०) पर म. म. पं० सुधाकर द्विवेदी की हिन्दी टीका
८१. स्टडीज इन दि तंत्र—पार्ट १, डा० प्रबोधचंद्र बागची, कलकत्ता १९३९
८२. हठ०—हठयोगप्रदीपिका, पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १९१५ ई०
८३. हिंदुत्व—स्व० रामदास गौड़; ज्ञानमण्डल, काशी सं० १९९७ वि०

नामानुक्रमणिका

[मोटे अक्षरों में छपे शब्द पुस्तकों के नाम हैं]

विषयानुक्रमणिका